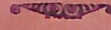
॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

९१



संस्कृत साहित्य में मौलिकता

एवं

अनुहरण

(ORIGINALITY AND IMITATION IN SANSKRIT POETICS AND POETRY)

डा० उमेशप्रसाद रस्तोगी



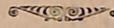
चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

१९६५

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

९१



संस्कृत साहित्य में मौलिकता एवं अनुहरण

(ORIGINALITY AND IMITATION IN SANSKRIT POETICS AND POETRY)

लेखक-

डा० उमेशप्रसाद रस्तोगी

एम० ए०, पी-एच० डी०

संस्कृत-विभाग :

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

१९६५

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२२

मूल्य : ...





(पी० एच-डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत शोधप्रबन्ध)

Phone : 3076

THE
VIDYABHAWAN RASTRABHASHA GRANTHAMALA
91

SANSKRIT SĀHITYA MẾ MAULIKATĀ EVAṀ ANUHARAṆA

(Originality and Imitation in Sanskrit Poetics and Poetry)

By

Dr. UMESH PRASAD RASTOGI M. A., Ph. D.

Sanskrit Department, Lucknow University, Lucknow.

THE
CHOWKHAMBA VIDYA BHAWAN
VARANASI-1
1965

Also can be had of :

THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

Publishers and Antiquarian Book-Sellers

POST BOX 8, VARANASI-1 (India) PHONE : 3145

समर्पणम्

श्रीमदाचार्यचरणेषु

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'

A BRIEF SUMMARY

OF

THE THESIS (IN HINDI)

ON

ORIGINALITY AND IMITATION IN SANSKRIT POETICS AND POETRY, A STUDY IN THEORY AND PRACTICE.

The idea to study in detail the concept of originality and imitation in Sanskrit poetics and poetry came to my mind while I was studying the Dhvanyāloka, Chapter IV with my teacher Dr. S. V. Singh Head of the Department of Sanskrit and Prakrit Languages in this University. In this Chapter of the Dhvanyāloka, the author discusses the role of his theory of Dhvani in Original poetic compositions. The reflections of the Dhvanikāra on originality, on emulation, on imitation, on resemblances, on plagiarism and on connected problems appealed to me immensely. In the light of these reflections of Ānanda-Vardhana, I made a study of the major authors of the early Alankārasāstra and I found them anticipating Ānandavardhana in their own way. I studied the major Alankāra works of the Post-Dhvani period also and found them echoing the ideas of the Dhvanikāra.

I have analysed my impression of the age old concept of Original poetic creation in the following 15 Chapters of moderate sizes of this dissertation-

Ist Chapter

Relating the Origin of the concept of originality in the sense of novelty, in the Vedic age. The desire of the Vedic seer to compose new and novel sukta or Mantra is interpreted here as a literary legacy left by the Vedic seer to the Sanskrit poet.

IInd Chapter

It discusses the stray observations of the early Ālankārikās on originality in literary productions. Bhāmaha (6th Century A. D.) is held to be the first Ālankārika who has distinguished between poets who are original (Siddha Sārasvata) and poets who are copyists (Anya–Sārasvata)

IIIrd Chapter

It deals with the view point of Vāmana in drawing the line of demarcation between literary composition having originality (Ayonikāvya) and literary compositions written in emulations of other authors (Anyacchāyāyoni Kāvya)

IVth Chapter

Here the contributions of the Dhvanikāra and locanakāra to the cause of original poetic creations has been discussed in some detail.

Vth Chapter

It is devoted to the treatment of originality as novelty of expression.

VIth Chapter

It deals with the Sanskrit poets' idea of originality as poetic inspiration, as poetic creativity and as novelty of expression.

VIIth Chapter

It discusses the observations of the Pre-Dhvani-Ālankārikas on literary emulation (Anuharana) as essential for literary production. Anuharana (emulation) is distinguished from Apaharana (Plagiarism) which is a blot on the name of the poet.

VIIIth Chapter

It is meant to present the concept of Ānandavardhana and Abhinavagupta on literary resemblances (Kāvya Saṁvāda) of desirable and undesirable types. The view of Rājaśekhara as influenced by the view of Ānandavardhana and as influencing the literary productions of his (Rājaśekhara's) times is also touched upon.

IXth Chapter

Herein is discussed in detail Rājaśekhara's contribution to the concept of originality and imitation (including emulation) in poetry and literature as presented in his Kāvyamīmāṁsā.

Xth Chapter

It deals with the stand point of Kṣemendra on literary productions characterised by originality of conception and execution. According to Kṣemendra Anuharana (emulation) is shown to help poetic inventions.

XIth Chapter

It relates to the application of the principles of originality—Emulation in the Raghuvaṁsa of Kālidāsa. The Raghuvaṁsa is shown to be as much original as the Rāmāyana of Vālmīki.

XIIth Chapter

Herein the Jānkiharana of Kumārdāsa is compared and contrasted with the Raghuvaṁsa of Kālidāsa in the light of the concept of originality developted in the Alankārasāstra.

XIIIth Chapter

This is devoted to the study of the "Rāvana Vadha" of Bhatti as a literary production of a Unique type. The Rāvanavadha is shown to be original in a special sense.

XIVth Chapter

It discusses the originality of Bhoja, the author of the Campū Rāmāyana in comparison and contrast with the Rāmāyana of Vālmīki and the Raghuvaṁsa of Kālidāsa.

XVth Chapter

It is the last Chapter meant to sum up the ideas of Originality and emulation in Sanskrit poetry and poetics.

The Sanskrit poets and Sanskrit critics are shown to be unanimous here in upholding the view that poetic genius needs bearing to make it shine. Just as no Sanskrit poet boasts of his being divinely inspired and having no learning, no Sanskrit critic has any consideration for any Sanskrit poet for his poetic inspiration minus intellectual equipment. "Pratibha" accordingly is the blessing, the Goddess of Learning (Sarasvati) bestows on a poet, but Vyutpatti is no less a blessing which a poet receives from the Goddess of Learning as a reward for his love and devotion to learning.

The Ālankārikās are shown to be clear on the following points concerning originality and imitation in literary creations–

(a) The poet who writes by imitation (Anukarana) confesses his inferiority.

(b) The poet who emulates does not have any inferiority complex but enters into competition with his compeers.

(c) The author of an original composition looks for no inspiration less than divine.

In the presentation of this thesis, I have made use of reflections and observations of all the authors of the past and the present, who have written on Sanskrit poetry and literature. My humble contribution in the thesis consists in the presentation of a "Literary problem" embedded in the works of Alankāra-Sāstra to which the Sanskrit poets also have occassionally given their thoughtful consideration.



प्राक्कथन

अध्ययन काल में संस्कृत के विविध काव्यग्रन्थों का परिशीलन करते समय मन में यह जानने की अत्युत्कट अभिलाषा जागृत हुई कि वास्तव में वह कौन वस्तु है जिसके कारण एक कवि की कृति अमर बन कर सहृदय काव्यरसिकों के लिए अक्षय आनन्द का स्रोत हो जाती है और दूसरे कवि की रचना गर्हित और निन्दनीय दृष्टि से देखी जाती है। क्या कारण है कि एक ही काव्य वाल्मीकि रामायण, के इतिवृत्त तथा भाव शैली की प्रेरणा में अनेकों ग्रन्थ-(काव्य, नाटक, चम्पू) रघुवंश, जानकी हरण, रावण वध, सेतुबन्ध, उत्तररामचरित तथा रामायणचम्पू इत्यादि की रचना हो जाने पर भी न तो आदि काव्य रामायण में ही नीरसता आने पाई है और न इन उत्तरवर्ती ग्रन्थों में नवीनता (मौलिकता) का अभाव।

इसी उपर्युक्त जिज्ञासा की परिणति प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के रूप में हुई है। मानव की उन्नति एक दिन में नहीं हो गयी। विभिन्न क्षेत्रों में, आज जो प्रगति दृष्टिगोचर होती है वह मानव की सहस्रों पीढ़ियों की निरन्तर उद्योगशीलता और प्रयास का परिणाम है। पूर्व पीढ़ियों से प्राप्त पैतृक सम्पत्ति की सुदृढ़ आधार शिला पर ही पैर रखकर मनुष्य आगामी पीढ़ी के लिए भव्य भवन का निर्माण करता है। अतीत के अनुभवों, परीक्षणों और अन्वेषणों की उपेक्षा करके जीवन के किसी भी क्षेत्र में उन्नति कर सकना सम्भव नहीं। यही बात काव्य साहित्य के क्षेत्र में भी चरितार्थ होती है। पूर्व रचित काव्यों (काव्य, नाटक, चम्पू आदि) के अनुशीलन किंवा रसास्वादन में ही सहृदय पाठक अपनी कृति के लिए प्रेरणा और मार्गदर्शन प्राप्त करता है।

प्रश्न है कि क्या कारण है कि प्रेरणा का स्रोत एक ही होने पर भी एक कवि की कृति मौलिक (नवीन) बन जाती है और दूसरे की अनुकृति (अनुकरण) मात्र । इसके उत्तर की खोज में तीन वस्तुयें सामने आती हैं—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और मन्तव्य । यदि कवि में प्रतिभा है तथा उसका उद्दिष्ट (मन्तव्य) भी सर्वथा अप्रतिम काव्य रचने का है तो पुराने इतिवृत्त तथा भाव शैली के अनुसरण में भी उसकी कृति सर्वथा नवीन बन जाती है जो कि उसे युगों तक अक्षय कीर्ति और यश प्रदान करती रहती है । दूसरी अवस्था वह है जिसमें कि कवि का मन्तव्य तो सर्वथा नवीन रचना करने का ही रहता है किन्तु उसमें प्रतिभा न होकर उसके स्थान पर व्युत्पत्ति होती है । इस अवस्था में यद्यपि ऐसी रचना तो नहीं बन पाती है जिससे कि कवि को अमिट यश मिल सके किन्तु यत्किंचित् उसमें नवीनता का समावेश अवश्य हो जाता है जिसके कारण सहृदय उसका स्वागत करते हैं । तृतीय अवस्था वह है जिसमें कवि का मन्तव्य ही नहीं ठीक रहता । उसकी भावना ही नहीं शुद्ध होती है । वह स्वयं में नवीन कृति की रचना का सामर्थ्य न होने पर भी, अन्य कवियों की कृतियों से अपहरण (चोरी) करके नवीन रचना का ढोंग रचता है तथा इस प्रकार रसिक पाठकों की आँखों में धूल झोंकने का प्रयास करता है । प्रथम प्रकार की कृतियों में रघुवंश इत्यादि तथा द्वितीय प्रकार की रचनाओं में जानकी हरण, रावणवध इत्यादि काव्य आते हैं । तृतीय कोटि की रचनाओं का संस्कृत साहित्य में अभाव है । इसका कारण संस्कृत साहित्य में 'अपहरण की प्रवृत्ति' का न होना ही है । यहां यह ध्यातव्य है कि काव्य की ये त्रिविध कोटियाँ काव्य में व्यंग्यरस के प्राधान्याप्राधान्य की अपेक्षा से नहीं अपितु काव्य में मौलिकता और अनुहरण की दृष्टि से ही हैं ।

उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि काव्य-रचना में तीन प्रधान प्रवृत्तियों का संकेत मिलता है १. मौलिकता २. अनुहरण ३. अपहरण । शुद्ध मौलिकता का सम्बन्ध प्रतिभा से है । अनुहरण दो प्रकार का होता है—१. ग्राह्य अनुहरण २. त्याज्य अनुहरण ।

ग्राह्य या उपादेय अनुहरण से काव्य की श्रीवृद्धि होती है और त्याज्य अनुहरण से अवनति। तृतीय प्रवृत्ति अपहरण है जिसका तात्पर्य काव्य में चोरी से है। संस्कृत साहित्य में इसका अभाव है।

काव्य रचना में 'ग्राह्य अनुहरण' के महत्त्व को देखते हुए उस पर कुछ अधिक प्रकाश डालना आवश्यक है। जैसा कि ऊपर कहा गया है शुद्ध या उच्चकोटि की मौलिकता का सम्बन्ध प्रतिभा से है। प्रतिभा दिव्यवस्तु है जो कि जन्मजात होती है। फलतः मौलिक काव्य कृति एक प्रतिभावान् कवि ही कर सकता है—यह सोचकर एक मौलिक काव्य रचना के अभिलाषी व्यक्ति के लिए निराश होने की आवश्यकता नहीं उसके लिए आशा की किरण 'ग्राह्य अनुहरण' ही है। वह व्युत्पत्ति और अभ्यास की सहायता से ग्राह्य अनुहरण की सरणि का अनुसरण करते हुए अवश्यही ऐसे काव्य की रचना कर सकता है जो कि उसे युगों तक अमरयश प्रदान कर सके। काव्य रचना की दृष्टि से यह प्रवृत्ति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

अभी तक संस्कृत साहित्य का अध्ययन 'मौलिकता और अनुहरण' की दृष्टि से नहीं किया गया था। प्रस्तुत प्रबन्ध में इसी दृष्टिकोण से संस्कृत साहित्य पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। संस्कृत वाङ्मय के अतिविस्तार के कारण, सम्पूर्ण साहित्य का विवेचन एक ही ग्रन्थ में असम्भव होने से, स्थालीपुलाकन्याय से हमने केवल प्रसिद्ध काव्यों को ही विवेचन का विषय बनाया है।

इस प्रबन्ध का प्रयोजन संस्कृत काव्य पाठकों के समक्ष एक समस्या को प्रस्तुत करना है। इस लघु प्रयास की कृतार्थता इसी उद्देश्य की पूर्ति में है।

मैं अपने गुरुवर पूज्य डा० सत्यव्रत सिंह जी, डी० लिट्०, अध्यक्ष संस्कृत एवं प्राच्य भाषा विभाग, के प्रति किन शब्दों में आभार प्रदर्शन करूँ जिनकी प्रेरणा और मार्गदर्शन से ही यह कार्य सम्भव हो सका है। मेरी मूक वाणी ही उनके प्रति मेरी श्रद्धाञ्जलि है।

—उमेशप्रसाद रस्तोगी

विषय सूची

संस्कृत काव्यशास्त्र और काव्य
में
मौलिकता तथा अनुकरण

संस्कृत काव्यशास्त्र और काव्य में मौलिकता की भावना का उद्गम

संस्कृत काव्यशास्त्र और काव्य में मौलिकता अथवा नवीनता की भावना का स्रोत वैदिक युग के ऋषि कवियों की साहित्यिक परम्परा में दिखाई देता है। यास्काचार्य के निरुक्त में पुराण प्राचीन और 'नवीन' के पर्यायवाचक ऐसे शब्दों का एक संकलन है जो वेद वाङ्मय में भिन्न-भिन्न प्रसंगों में प्रयुक्त हो चुके हैं। 'प्राचीन के पर्यायवाचक शब्द ये हैं।'[१]

प्रत्नम् , प्रदिवः, प्रवयाः, सनेमि, पूर्वम् , अह्नायेति षट् पुराणनामानि।

'नवीन' अर्थ के भी समानार्थक निम्नलिखित शब्द हैं जिन्हें यास्क ने संगृहीत किया है।

नवम् नूतनम्, नूतनम्, नव्यम्, इदा, इदानीम् इति षडेव नवनामानि।

वेद वाङ्मय में प्रत्न और नव्य

ये शब्द सूक्तों और मन्त्रों की भी प्राचीनता अथवा नवीनता के निर्देशक के रूप में जहाँ तहाँ प्रयोग में आये है। वेद के ऋषि पुरानी और नयी सूक्त रचना तथा पुरानी और नयी मन्त्र कृति में दृष्टि भेद रखते आये हैं। पुरानी कृति के प्रति अतृप्ति अथवा अरुचि और नयी रचना के प्रति तृप्ति अथवा रुचि दोनों बाते मन्त्रकार ऋषियों की एक साहित्यिक प्रवृत्ति अथवा परम्परा के रूप में प्रतीत होती है। 'आज जो नई नहीं हैं वह अपने उद्भव अथवा निर्माणकाल में नई थी ('पुराणं कस्मात् पुरा नवं भवति)—यास्क की इस निरुक्ति को देखिये जिसमें पुराण' 'अथवा प्राचीन' को भी अपने उद्भवकाल में नवीन बताया गया है। यास्क ने 'नव' शब्द की भी निरुक्ति की है जो कि यह है।

'नवं कस्मादानीतं भवति।'

अर्थात् जो वस्तु पहले से निर्मित न हो अपितु अभी अभी उत्पन्न हो वह नव अथवा नूतन कही जाती है। 'पुराण' और 'नव' के भेद में वस्तु के विपर्यास की अपेक्षा काल के परिवर्तन का हाथ अधिक दिखाई देता है। किन्तु साथ ही साथ वस्तु दर्शन अथवा अनुभव करने वालों की मनःस्थिति में भी भेद की सूचना यहाँ मिल जाती है।

---

१. यास्क (निरुक्त) नैघण्टुक काण्ड ३.२७।

ऋग्वेद के ऋषि कवि की नव्यता भावना

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का एक सूक्त देखिये जिसमें एक मन्त्रदर्शी ऋषि कवि अपने सूक्त को 'नव्य' (नवीन) कह रहा है और अपनी 'नयी कृति' के आनन्द में आह्लादित हो रहा है।[१]

'सनायते गौतम इन्द्र नव्य
मतक्षद्ब्रह्म हरियोजनाय।
सुनीथाय नः शवसान नोधाः
प्रातर्मक्षु धियावसुर्जगम्यात्॥

अर्थात् हे इन्द्र? आप जैसे महान् नायक तथा शक्तिशाली देवराज के लिए ही यह नवीन सूक्त ऋषि ने निर्माण किया और इस नवीन सूक्त से ही हम आपकी उपासना करते हैं जिससे, आप, प्रातःकाल, प्रतिदिन सदा हमारे हृदय में दर्शन दे।

इस सूक्त में १३ मन्त्र हैं और इन्द्र इस सूक्त के देव हैं। इन्द्र के सम्बन्ध में अनेकों सूक्त इस रचयिता ऋषि के सामने हैं और इन सूक्तों के भाव को ही इस सूक्त के भी ऋषि कवि ने हृदयंगम किया है। किन्तु इन सूक्तों के भावों के अनुगमन में भी रचे इस सूक्त को इसका रचयिता 'नव्यं ब्रह्म' 'अथवा नवीन सूक्त के रूप में देख रहा है। इन्द्र के प्रति प्रकाशित प्राचीन भावों की भूमि में उत्पन्न हुआ यह सूक्त किस प्रकार 'नवीन' हो सकता है? इस प्रश्न का समाधान इस सूक्त की नयी नयी इन्द्रविषयक भावनाओं और इन भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए ऋषिकवि की नयी नयी कल्पनाओं और उक्तियों में दिखाई देता है। इस सूक्ति का रचयिता अपनी मन्त्र कृतियों के काव्यात्मक सौन्दर्य पर स्वयं मुग्ध है। नीचे उद्धृत मन्त्र को ही देखिये जो इस सूक्ति की 'नवीनता' का पहला समर्थक है।[२]

सनायते नमसा नव्यो अर्कै-
र्वसूयवो मतयो दस्म ददुः॥

पतिं न पत्नीरुशतीरुशन्तं
स्पृशंति त्वा शवसावन्मनीषाः॥

'हे इन्द्र! अनेकों पुराने ऋषि कवियों ने अपने मन्त्रों से आपकी प्रार्थना की है और अनेकों प्राचीन मेधावान् भक्तों ने अपनी-अपनी भक्ति भावनाओं के बल पर आप तक पहुंचने का प्रयास किया है। हमारे मन्त्र भी आप तक

---

१. ऋग्वेद १.६२.१३। २. वही १.६२.११।

पहुँच रहे हैं किन्तु उस रूप में जिसमें कोई प्रियतमा पत्नी अपने प्रियतम पति के समीप पहुँचना चाहती है।'

यहाँ ऋषि कवि ने एक 'नयी कल्पना' की है। 'मन्त्र सूक्ति प्रियतमा पत्नी है और इन्द्र प्रियतम पति है' यह कल्पना इन्द्र सूक्तियों में अन्यत्र नहीं दिखाई देती। इस मन्त्र का रचयिता इस नई कल्पना की स्मृति अपने हृदय में संजोये है। और इस नयी कल्पना की स्मृति से उसकी कारयित्री प्रतिभा में ऐसी स्फूर्ति आ जाती है कि वह अगले मन्त्र की 'अपूर्व रचना' करने में आनन्द मग्न हो जाता है। इस मन्त्र का अगला मन्त्र निम्नलिखित है।[1]

समादेव तव रायो गमस्तौ
न क्षीयं ते नोप दस्यंति दस्म।
द्युमां असि क्रतुमां इन्द्र धीरः
शिक्षा शचीवस्तव नः शचीभिः॥

'हे इन्द्र ! सभी देवों में आप ही दर्शनीय हैं, आपके वैभव शाश्वत हैं; समस्त जगत् को आप अपने ऐश्वर्य का दान देते हैं किन्तु आपका ऐश्वर्य बढ़ता ही जाता है। आपकी दिव्य दीप्ति और आपकी लोकहित कामना का वर्णन संभव नहीं। आप अपनीं विभूतियों से हमें निरन्तर संतृप्त करते रहें।'

इस मन्त्र में 'शिक्षा शचीवस्तव नः शचीभिः' की सुन्दर पदयोजना पर ध्यान दीजिये जिस पर इसका रचयिता स्वयं मुग्ध प्रतीत हो रहा है। ऐसा लगता है कि जिस प्रकार भवभूति और जगन्नाथ जैसे संस्कृत के महाकवि अपनी उक्ति माधुरी पर स्वयं प्रसन्न हो उठते हैं वैसे ही इस मन्त्र की उक्ति माधुरी पर, इसका रचयिता भी प्रसन्न हो रहा है। पता नहीं कितनी बार 'शिक्षा शचीवस्तव नः शचीभिः' इस मधुर त्रिष्टुप् चरण को इसके रचयिता ने मन ही मन गाया होगा। किन्तु बिना ऐसा किये, उसके मन में, अपने सूक्त की मौलिकता अथवा नवीनता की भी प्रतिभा कैसे उत्पन्न हुई होगी।

यह त्रिष्टुप् चरण इस सूक्ति की 'नवीनता' का दूसरा समर्थक है जिसपर इसके रचयिता की दृष्टि स्वयं पड़ रही है। संस्कृत काव्य साहित्य की 'सची' और 'शचीपति' इन्द्र की कल्पनायें इस त्रिष्टुप् चरण से ही सम्भवतः उत्पन्न हुई हैं।

सम्भवतः ऋग्वेद का ऐसा कोई मण्डल नहीं जिसमें कोई न कोई ऋषि कवि, किसी न किसी दृष्टि से, अपनी मन्त्र कृति में नवीनता का दर्शन न करता हो। 'नयी मन्त्र सूक्ति वही हो सकती है जो हृदय से निकली हो यह भाव भी

---

१. वही १.६२ १२।

ऋषि कवियों की नवीनता दृष्टि में स्पष्ट झलकता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित मन्त्र देखिये[१]—

तं नव्यसी हृद आ जायमान्
मस्मत् सुकीर्तिर्मधुजिह्वमश्याः।
यमृत्विजो वृजने मानुषासः
प्रयस्वन्त आयवो जीजनन्त॥

यहाँ मन्त्र ऋषि अपनी 'स्तुति' सुकीर्ति को नव्यसी नयी कह रहा है और साथ ही साथ उसके कारणरूप से यह भी निर्देश कर रहा है कि यह मन्त्र सूक्ति उसके हृदय से निकल रही है। अग्नि के दिव्य स्वरूप के द्रष्टा अनेकों ऋषि हो चुके होंगे। इस मन्त्र का रचयिता भी अग्नि के दिव्य स्वरूप का ही दर्शन कर रहा है किन्तु उसके सम्बन्ध में उसकी भावना यह है कि अग्नि के जैसे दिव्य स्वरूप का वह दर्शन कर रहा है वह बड़ा मादक है और उसके हृदय से अभिव्यक्त हो रहा है।

सूक्त अथवा मन्त्र की नवीनता का कारण : चमत्कारजनकता

ऋग्वेद का निम्नोद्धृत एक और मन्त्र देखिये[२]—

'प्र तव्यसीं नव्यसीं धीतिमग्नये
वाचो मतिं सहसा सूनवे भरे।
अपां नपाद्यो वसुभिः सह प्रियो
होता पृथिव्यां न्यसीदद्दत्वियः॥

यहाँ अग्नि की 'वाचो मति' अथवा 'स्तुति' को 'नव्यसी' अपूर्व अथवा सर्वथा नवीन निर्दिष्ट किया गया है और साथ ही साथ यह भी निर्दिष्ट किया गया है कि नयी मन्त्रसूक्ति ही 'तव्यसी' अथवा अपनी उत्तरोत्तर श्री समृद्धि का प्रकाशन करने में समर्थ होती है। पुरानी मन्त्र सूक्ति अथवा काव्य सूक्ति की अपेक्षा जिस किसी मन्त्र सूक्ति अथवा काव्य सूक्ति को नया माना जाता है उसका कारण उसकी चमत्कारजनकता ही है। संभवतः यह 'चमत्कार-जनकता' ही यहाँ 'तव्यसी' शब्द की अभिप्रायाभिव्यक्ति का लक्ष्य है।

वेद के ऋषि कवियों की दृष्टि में 'प्रत्नता' अथवा 'नव्यता' की भावना का उन्मेष प्रतिदिन की उषा के दर्शन में हुआ करता होगा। आज का उषा सौन्दर्य कल के उषा सौन्दर्य के समान है ऐसी भावनाओं में पुरानी और नयी मन्त्रकृतियों की समान सुन्दरता की भी भावना का जन्म स्वभावतः होता

१. वही १.६०.३।

२. वही १.१४३.१

होगा। नीचे लिखी मन्त्र सूक्ति देखिये जिसका काव्यात्मक सौन्दर्य संस्कृत कवियों के प्रभात वर्णन में नहीं मिल सकता है।[१]

आसां पूर्वासामहसु स्वसृणा
मपरा पूर्वामभ्येति पश्चात्।
ताः प्रत्नवन्नव्यसीर्नूनमस्मै
रेवदुच्छन्तु सुदिना उषासः॥

यहां उषा का वर्णन है। पुरानी और नयी उषा में सौन्दर्य की समान संक्रान्ति का यहाँ दर्शन दिया गया है। क्या यही बात ऋषि कवियों की भावना में अपनी मन्त्र कृतियों के सम्बन्ध में नहीं दिखाई देती? ऋषि कवि अपनी मन्त्र सूक्ति को 'नव्यसी' कहकर प्रसन्न होते हैं किन्तु इसमें उनका यह अभिप्राय नहीं रहता कि पुरानी मन्त्रकृति में कोई नवीनता न थी। पुरानी मन्त्रकृति में ऋषि कवि जो सौन्दर्य दर्शन करते आये है वही सौन्दर्य दर्शन वे नयी मन्त्र कृति में भी करना चाहते हैं। संभवतः इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर यास्क ने 'पुराण' शब्द की ऐसी निरुक्ति की जिससे नये और पुराने का भेदभाव नहीं दिखाई दे।

पुरानी मन्त्र सूक्तियों की भूमि में ही नयी मन्त्र सूक्तियां जन्म लेती हैं जिन मन्त्र सूक्तियों में ऋषियों को 'नवीनता' का दर्शन होता है उनमें वर्ण्य वस्तु अभूतपूर्व नहीं होती अपितु वर्ण्य वस्तु के किसी रूप विशेष का दर्शन होता है अथवा पूर्व वर्णन की अपेक्षा नवीन वर्णन वैचित्र्य का आनन्द मिलता है। 'नवीनता' अथवा मौलिकता के सम्बन्ध में यही भावना, संस्कृत काव्य शास्त्र तथा संस्कृत काव्य दोनों की भावना है।

वैदिक ऋषियों की नव्यता-भावना का संस्कृत कवियों में संक्रमण

वेद वाङ्मय के ऋषि कवियों की भाँति संस्कृत के कवि भी 'नवीनता' के दर्शन की कामना रखते आ रहे हैं। वेद के ऋषि कवियों की मन्त्रगत अथवा सूक्त गत नवीनता के सम्बन्ध में जो दृष्टि है वह संस्कृत कवियों की नवीनता दृष्टि का ही सबसे पहला उन्मेष है। नीचे लिखे संस्कृत श्लोक में काव्यगत नवीनता के अभिप्राय का प्रकाशन देखिये।[२]

'त एव पदविन्यासास्ता एवार्थविभूतयः।
तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रन्थनकौशलात्॥

---

१. वही १.१२४.९।
२. सुभाषितरत्नभाण्डागारम् : काव्यप्रशंसा : श्लोक ६।

अथवा निम्नोद्धृत सूक्ति में अभिनव काव्य रचना के सम्बन्ध में उल्लेख देखिए[१]

'समुल्लासो वाचां सरसमधुनिष्यन्दलहरी
समुन्मेषद्वेषी सकलरसपोषोपजनकः।
न केषामाधत्ते मनसि परितोषं नवनवै-
र्विलासैरुन्मीलद्विकचितमधूलीपरिमलः ॥

ऐसे अभिप्राय प्रकाशनों अथवा उल्लेखों का इतिहास वेद वाङ्मय के ऋषि कवियों की काव्यात्मक परम्परा से प्रारंभ होता है और जब तक भारतीय साहित्यक का अस्तित्व रहेगा तब तक भारत की एक साहित्यिक परम्परा के रूप में चलता ररेगा।

वेद के मन्त्रों और सूक्तों में भाव सादृश्य अथवा भाव सम्वाद का प्रायः सर्वत्र दर्शन होता हैं यही बात संस्कृत के काव्यों और काव्य सूक्तियों में भी दिखाई देती है किन्तु भाव सादृश्य के कारण न तो नयी मन्त्र रचना रुकती है और न नयी काव्य सूक्ति की रचना के प्रति कोई कवि उदासीनता दिखाता है। 'भाव साम्य' में चोरी की बात न तो वेद के ऋषि कवियों के मन में कभी आ पाई और न संस्कृत के कवियों के मन में। ध्वनिकार आनन्दवर्धन की निम्नलिखित एक सूक्ति देखिये[२]—

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किंचित्
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्
कविरुपनिबध्नन्निद्यतां नोपयाति ॥

इस सूक्ति में आनन्दवर्धन ने नए नए कवियों के नए नए काव्यों की रचनाओं के लिए जो प्रोत्साहन दिया है वही प्रोत्साहन वेद के ऋषि कवियों ने मन्त्रकृतियों में अनुभव किया है। ध्वनिकार का यह प्रोत्साहन भी वेद वाङ्मय के प्रोत्साहन का एक नवीन संस्करण प्रतीत होता है।

काव्यगत प्राचीनता से नयी काव्य कृति प्रोत्साहित होती है और नयी काव्यकृति आगे आने वाली काव्य कृतियों को प्रोत्साहित कर प्राचीन बन जाती है। जब से काव्य रचा गया तब से यह परम्परा चलती आ रही है और चलती चली जायेगी। नयी काव्य कृतियों के रूप में पुरानी काव्य कृतियों का जन्म होता है। पुनर्जन्म का प्राचीन भारतीय सिद्धान्त लोक सृष्टि की भांति

१. सुभाषितरत्नभाण्डागारम्: काव्यप्रशंसा ३८।
२. ध्वन्यालोक ४.१६।

काव्य सृष्टि का भी एक व्यापक सिद्धांत है जिसका अपवाद संभवतः किसी भी देश में किसी भी भाषा के काव्य साहित्य में आज तक नहीं देखा जा सका है।

अलंकारवाद की दृष्टि में काव्य में मौलिकता

भामह, दन्डी, उद्भट, रुद्रट तथा प्रतीहारेन्दुराज ये पाँच काव्याचार्य काव्य में अलङ्कारवाद के प्रवर्तक और प्रवर्धक आचार्य हैं। इन आचार्यों ने काव्य में मौलिकता के सिद्धान्त पर कोई पृथक् प्रकाश भले ही न डाला हो, किन्तु 'काव्य' और 'काव्य में अलङ्कार' की समस्या का समाधान करते हुए इन्होंने कुछ ऐसे सूक्ष्म संकेत अवश्य दिये हैं जिनका अनुसरण करते हुए यह जाना जा सकता है कि 'अलङ्कारवाद' की दृष्टि में काव्य में मौलिकता का क्या स्वरूप है।

आचार्य भामह और काव्य में मौलिकता

सबसे पहले अलंकारशास्त्र के जाने माने आचार्यों में प्रमुख आचार्य भामह (६ ठी ७ वीं शताब्दी) की दृष्टि में काव्य में मौलिकता का अभिप्राय जानना आवश्यक है। भामह ने शब्द, छन्द, अभिधान, अर्थ इतिहासाश्रित कथा, लोक, युक्ति और कला इन आठ काव्योपयोगी तत्त्वों को अष्टविध काव्यवैखरी के रूप में माना है।[१] कविजन के लिए काव्यवैखरी अथवा काव्य वैशारदी के इस तत्त्वाष्टक की साधना अपेक्षित है, क्योंकि बिना इसके वाग्विदग्धता की सिद्धि भले ही हो, सत्कवित्व की सिद्धि नहीं हो सकती। भामह के अनुसार बिना सत्कवित्व की सिद्धि के वाग्वैदग्ध्य की सिद्धि सफल नहीं होती 'रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता'[२] काव्यवैखरी की सिद्धि के इस सिद्धान्त से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि काव्य में ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती जिसे 'तात्त्विक' अथवा 'पारमार्थिक' मौलिकता की संज्ञा दी जाए। इसीलिए 'मौलिकता' को 'सर्वतः प्रथमता' अथवा 'प्राचीनतमता' मानना भी उचित नहीं। काव्य साहित्य अथवा ललित के क्षेत्र में जो प्राचीन हो वह श्लाघ्य हो और जो नवीन हो वह गर्ह्य हो ऐसा कोई नियम नहीं। जैसा कि महाकवि कालिदास ने स्पष्ट ही कहा है।[3]

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न
चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयसिद्धिः॥

---

१. भामह : काव्यालंकार १.९। २. वही १.४।
३. मालविकाग्निमित्रम् १.२।

अर्थात् पुरानी काव्यकृति अच्छी होती है और नयी काव्यकृति अच्छी नहीं होती यह तो मूढजन के दुराग्रह की बात है। विवेकशील लोग इस दुराग्रह से दूर रहा करते हैं, क्योंकि उनके लिए पुरानी या नई कोई भी रचना, यदि वह उनके काव्यानुभव की कसौटी पर खरी उतरी तो अच्छी ही होगी।'

कवि के लिए 'काव्यवैखरी' की सिद्धि की उपर्युक्त मान्यता से यह निष्कर्ष स्वभावतः निकल आता है कि काव्य में सर्वथा नवीन अथवा सर्वथा मौलिक कोई बात नहीं होती है। काव्यवैखरी की सिद्धि के बाद 'प्राचीन काव्यप्रबन्धों के मनन चिन्तन के परिणामस्वरूप काव्यरचना में प्रवृत्ति हुआ करती है।' भामह ने यह स्पष्ट कहा है।[1]

'विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः।'

इससे यही समझा जा सकता है कि जिस काव्य से प्रभावित होकर हम उसे 'मौलिक' मान बैठते हैं वह सर्वथा मौलिक नहीं। सभी कवि चाहें उन्हें कितना भी मौलिक माना जाये वस्तुतः पूर्वसंचित काव्यसम्पत्ति और पूर्वप्रवृत्त काव्य परम्परा के ऋणी हुआ करते हैं। महाकवि कालिदास के काव्य शून्य से नहीं उत्पन्न हुए। इन काव्यों की जड़ में आदिकाव्य वाल्मीकि रामायण तथा आज अज्ञात अन्य अनेक प्राचीन काव्य-साहित्य-कृतियों के उपादेय पोषक तत्त्व पड़े हैं।

अमुक काव्यकृति मौलिक 'है क्योंकि उसके रचयिता ने नई पदयोजना की है अथवा अद्भुत अथवा अतिरंजनापूर्ण वस्तुवृत्त आदि की उद्भावना की है' यह भी भामह के अनुसार मौलिकता की पहचान नहीं। भामह निर्दुष्ट काव्य के उपासक हैं। भामह की दृष्टि में दोषयुक्त काव्य का उत्पादन और कुपुत्र का उत्पादन दोनों एक समान निन्दनीय हैं। दोषयुक्त काव्य रचना 'कुकवित्व' है और 'कुकवित्व' किसी भी मनीषी के लिए मृत्यु के तुल्य है। कवि का यह परम धर्म है कि वह ऐसे किसी भी पद की योजना न करे जो 'सावद्य' अथवा 'सदोष' हो।[2]

सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते।
नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषणः॥

अपनी इस मान्यता के विशद प्रकाशन में काव्योपयोगी पदयोजना पर दृष्टि पात

---

१. भामह : काव्यालंकार १.१०। २. वही १.११,१२

करते हुए भामह ने अपनी यही धारणा व्यक्त की है कि कवियों को ऐसे शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जो क्रमागत हों, श्रुतिसुख हों और अभिमत अभिप्राय के प्रतिपादक हों। ऐसे शब्दों का प्रयोग काव्य का एक विलक्षण अलंकार है जो अन्य अलंकारों से कहीं अधिक सुन्दर हुआ करता है[१]—

क्रमागतं श्रुतिसुखं शब्दमर्थ्यमुदीरयेत्।
अतिशेते ह्यलंकारमन्यं व्यञ्जनचारुता॥

शब्दानुशासन शास्त्र से सम्मत तथा कविपरम्परा से प्राप्त पदों के प्रयोग और उपयोग को ध्यान में रखकर भामह ने यह निर्णय किया है कि नई अथवा पूर्व कविपरम्परा से अप्राप्त पद की योजना भ्रामक होती है, काव्य पाठक के चित्त को संमोह में डाला करती है इसलिये 'अप्रयुक्त' पद का प्रयोग वाच्छनीय नहीं है।[२]

नाप्रयुक्तं प्रयुञ्जीत चेतःसमोहकारिणम्।
तुल्यार्थत्वेऽपि हि ब्रूयात् को हन्ति गतिवाचिनम्॥

भामह के अनुसार साहित्यिक परम्परा के अनुसरण से काव्य रचना और काव्यगत मौलिकता

इससे यह स्पष्ट है कि पूर्व कविपरम्परा से विलक्षण पदयोजना में मौलिकता की खोज निरर्थक है। यही बात अद्भुत अतिरज्जनापूर्ण वस्तुवृत्त आदि की उद्भावना में भी है। भामह के अनुसार काव्य में वृत्त के चार प्रकार होते हैं प्रख्यातदेवादिचरितविषयक, कविकल्पनाप्रसूत, कलाश्रय तथा शास्त्राश्रय।[३] इनमें 'कविकल्पनाप्रसूतवृत्त का भी सर्वथा विलक्षण होना उचित नहीं। देवादिविषयक वृत्त की प्राचीन मर्यादा की भित्ति पर ही, आवश्यकतानुसार, कोई कवि नई वृत्तकल्पना कर सकता है। यहाँ कवि की स्वेच्छाचारिता का कोई स्थान नहीं। महाकाव्य के लिए लोकस्वभाव से युक्त[४] होना आवश्यक है इस दृष्टि से भी लोकातिक्रान्त वृत्त का उपनिबन्धन एक अनौचित्य है। वृत्त के विन्यास में 'अनौचित्य' हो सकता है, मौलिकता नहीं हो सकती।

प्रश्न उठता है भामह के अनुसार काव्य में 'मौलिकता' का अभिप्राय क्या हो सकता है? भामह ने नारी के सौन्दर्य के लिए मन्डन अथवा आभूषण की विदग्धतापूर्ण योजना की भांति वाणी के सौन्दर्य के लिए शब्द और अर्थ के अलंकार की विदग्धतापूर्ण योजना का सिद्धान्त स्थापित किया है। शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार की योजना-वैदग्धी उसी कवि के वश की बात है जो

---

१. वही ६.२८। २. वही ६.२४। ३. वही १.१७।
४. वही १.२१।

न तो सर्वथा प्राचीन परम्परा का उपासक है और न सर्वथा नई परम्परा का उत्पादक। सर्वथा प्राचीन परम्परागत अलंकारयोजना में 'वक्रता' का रस संचार नहीं हो सकता और सर्वथा नवीन अलंकारयोजना परम्परा के प्रवर्तन में जो 'वक्रता' हो सकती हैं उसमें यह भी भय है कि वह कहीं 'गुण' होने के बदले 'दोष' न हो जाये। काव्य में अलंकारविन्यास यदि देश, काल, कला, लोक, न्याय और आगम आदि के अनुकूल हुआ तब उसमें 'नव्यता' की मात्रा कम हो जायेगी और यदि प्रतिकूल हुआ तब यह निश्चित है कि दोष की गणना में गिना जायेगा। उदाहरण के लिए यह श्लोक वाक्य देखिये[1]—

मलये कन्दरोपान्तरूढकालागुरुद्रुमे।
सुगन्धिकुसुमानम्रा राजन्ते देवदारवः॥

अर्थात् 'यह मलय है कन्दराओं के चारों ओर अगुरु के पेड़ उगे हैं और शिखरों पर सुगन्धमय कुसुमों से लदे देवदार के वृक्ष खड़े हैं। 'यहां मलयाचल के ऐसे असंभाव्य स्वभाव का दर्शन है और वर्णन है किसमें 'स्वभावोक्ति' अलंकार की नयी योजना नहीं अपितु 'देश विरोधिता' के दोष का उपन्यास दिखाई देता है।

इसी प्रकार इस श्लोक वाक्य में अतिशयोक्ति अलंकार की नई रचना नहीं अपितु 'लोकविरोधिता' के दोष का प्रदर्शन है[2]—

तेषां कटतटभ्रष्टैर्गजानां मदबिन्दुभिः।
प्रावर्त्तत नदी घोरा तत्र हस्त्यश्ववाहिनो॥

अर्थात् 'संग्रामभूमि मे हाथियों के मस्तक से मदबिन्दु इतने टपके कि मद की भयंकर नदी बहने लगी और उसमें हाथी और घोड़े तथा अन्य सब डूबने और उतराने लगे।'

भामह के अनुसार काव्य में 'सौशब्द्य' और 'अर्थव्युत्पत्ति' दोनों का एकमात्र निदान 'वक्रता' हैं। यह 'वक्रता' ही शब्द और अर्थ के अलंकारों का अन्तस्तत्त्व है[3]—

सेषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनयाविना॥

इस वक्रोक्ति का कारण क्या है? इस पर भामह ने स्पष्टतया कुछ नहीं कहा। एक स्थान पर भामह की एक उक्ति है[4]

---

१. वही ४.२९।
२. वही ४.३६।
३. वही २.८५।
४. वही १.५।

गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायतेजातु कस्यचित् प्रतिभावतः॥

जिसका अभिप्राय यह है 'गुरुजनों के उपदेश से मन्दबुद्धि लोग भी शास्त्रज्ञान का अर्जन करने में समर्थ हो सकते हैं किन्तु जिसे 'काव्य' की निष्पत्ति कहते हैं वह किसी विरले प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति के लिए ही सम्भव है। 'इस उक्ति में प्रतिभा को ही काव्य की निष्पत्ति का परम निदान बतलाया गया है। इस 'प्रतिभा' से उस 'वक्रता' का सम्बन्ध होना आवश्यक हैं जो शब्दार्थालंकारों का अन्तस्तत्व है। यह 'प्रतिभा' ही वस्तुतः मौलिक काव्य की जननी हैं। यह प्रतिभा न तो एकमात्र प्राचीन काव्य परिपाटी के अनुसरण में प्रकाशित होती है और न एकमात्र काव्यगत नवीन आविष्कृति में। 'प्रतिभावान्' और 'विदित-वेद्य'[1] कवि ही ऐसे काव्य की रचना में समर्थ हो सकता है जो उसे अमर बना दे। अपने काव्य में 'मौलिकता' के बिना कोई काव्य कलाकार यशस्वी नहीं हो सकता। 'प्रतिभा' अथवा 'नवनवोन्मेषशालिनी' प्रज्ञा हो, काव्यवैखरी हो (जिसे बाद के काव्याचार्य व्युत्पत्ति के रूप में मानते हैं) और काव्य रचना के प्रति आस्था और प्रयत्नशीलता हो तो कवि अपने काव्यमय शरीर को अमर कर सकता है। कवि के अमर काव्यमय शरीर पर जो भामह ने लिखा है वह बड़ा सुन्दर है[2]—

उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एव निरातंकं कान्तं काव्यमयं वपुः॥

इस प्रकार हम देख सकते है कि भामह के अनुसार किसी कवि की मौलिक काव्यकृति वह है जिसके कारण वह संसार में 'कवि' का सुयश पाता है। भामह की दृष्टि में काव्यगत मौलिकता कवि की प्रातिस्विक प्रतिभा के परिमाण के रूप में दिखाई देती है। सत्काव्यप्रबन्ध की रचना काव्य प्रबन्धों के अनु-सरण द्वारा सम्भव नहीं। इसके लिए अपनी प्रतिभा, अपने व्यक्तित्व की शक्ति आवश्यक है। इस प्रतिभा अथवा इस शक्ति की महिमा से ही काव्यप्रबन्ध रचे जाते हैं। सम्भवतः कवि की अपनी अनुभूति, अपनी भावना और जीवन के प्रति अपनी प्रतिक्रिया आदि की संवलित विशेषता वस्तुतः कवि की मौलिकता का ही एक रूप वह है जिसे भामह के पूर्ववर्ती काव्यप्रेमी अथवा काव्यालोचक 'भाविक' अलंकार के रूप में निरूपण करना चाहते थे और जिसे भामह ने काव्यप्रबन्ध में अन्तर्व्याप्त कवि की भावगत विशेषता (कवि की भावगत विशेषता और काव्यगत मौलिकता में हेतुहेतुमद्भाव का सम्बन्ध है) अथवा

---

१. वही १.८। २. वही १.६।

काव्यप्रबन्ध की रचना गत रमणीयता के रूप में बड़े मनोयोग से प्रतिपादित किया ।[1]

दन्डी की दृष्टि में काव्यरचना और उसकी मौलिकता

दन्डी (७ वीं शताब्दी) को हम भामह का परवर्ती मानते हैं । वैसे भामह पूर्ववर्ती काव्याचार्य नहीं अपितु पूर्ववर्ती काव्याचार्य दन्डी हैं यह समस्या अलंकार शास्त्र के इतिहास में अपने स्थान पर विराजमान है किन्तु काव्यादर्श में भामह प्रतिपादित काव्यगत विषयों के आलोचनात्मक उपन्यास और स्वमत निरूपण की क्रिया प्रतिक्रिया से यह अनुमान अधिक सबल प्रतीत होता है कि दन्डी ने भामह के 'काव्यालंकार' की आलोचना में ही अपना काव्यसम्बन्धी आदर्श प्रस्तुत किया है । यही कारण है कि काव्यगत मौलिकता के सम्बन्ध में भी भामह की अपेक्षा दन्डी का अभिमत अधिक स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है ।

दन्डी ने अपने काव्यादर्श में काव्यशास्त्र की उपयोगिता का प्रतिपादन करते हुए काव्य मार्ग की विविधता अथवा विचित्रता का निर्देश किया है ।[2]

अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसन्धाय सूरयः ।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम् ॥

इसका अभिप्राय यह है कि काव्यरूपी वाणी के मार्ग अत्यन्त विचित्र होते है । इस अतिविचित्र काव्यमार्ग के ही विश्लेषण में काव्याचार्यों ने 'क्रियाविधि' अथवा 'क्रियाकल्प' वस्तुतः काव्यालंकार शास्त्र की विविध मान्यताओं का निरूपण किया है । काव्य-मार्ग के वैचित्र्य का स्वरूप शब्दात्मक काव्यशरीर के वैचित्र्य किंवा उसके सौन्दर्यवर्द्धक तत्त्वों के वैचित्र्य में देखा जा सकता है । किन्तु इसका कारण कविजन का वैयक्तिक वैचित्र्य ही प्रतीत होता है । कविजन के वैयक्तिक वैचित्र्य के मूल में सबसे पहले वह कवित्वशक्ति प्रतीत होती है जिसे 'सहजा' (नैसर्गिक अथवा स्वाभाविक) और 'उत्पाद्या (बहुज्ञता अथवा व्युत्पत्ति से संभाव्य) कहना चाहिये ।[3] नैसर्गिक प्रतिभा से सम्पन्न कविजन भी विविध व्यक्तित्व वाले होते हैं और श्रुतमय तथा भावनामय ज्ञान से सम्पन्न कवियों के व्यक्तित्व की भी कोई इयत्ता नहीं । इस प्रकार कवि वैचित्र्य और काव्यमार्ग वैचित्र्य की दृष्टि से काव्य में मौलिकता की सीमा का अंकन हो जाता है । इस दृष्टि से काव्य में 'मौलिकता' दो रूप की सिद्ध होती

---

१. वही ३. ५१, ५४ । २. दण्डी काव्यादर्श १.९ ।
३. वही १.१०३ ।

वह जिसका रूपनिर्माण कवि की 'आहार्य प्रतिभा' का कार्य होता है । भामह ने काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः (काव्यालंकार १.८)' इस उक्ति में नैसर्गिक प्रतिभा को ही काव्यगत मौलिकता का निदान माना है किन्तु दन्डी ने काव्यशास्त्र श्रवण, काव्यशास्त्र तत्त्व चिन्तन तथा काव्यशास्त्रभावना तीनों के द्वारा संभाव्य 'आहार्य प्रतिभा' में भी दूसरे प्रकार की मौलिक काव्य-सृष्टि की शक्ति स्वीकार की है । दन्डी ने स्पष्ट कहा है ।[1]

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना ।
गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम् ॥
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता
ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥

अर्थात् भले ही किसी में नैसर्गिक कविप्रतिभा न हो किन्तु यदि उसमें काव्य और काव्यविद्या के शास्त्र के श्रवण, मनन और निदिध्यासन की साधना है तो उसपर कविता की सरस्वती अवश्य कृपा करती है । काव्यांग-विद्या की उपासना निष्फल नहीं जाती । नैसर्गिक प्रतिभा की मात्रा की न्यूनता में भी काव्यांगविद्याकी आराधना से कवि बना जा सकता है । यह एक और बात है कि नैसर्गिक मौलिकता (सहजा प्रतिभा) का स्थान ऊँचा है और आहार्य मौलिकता (उत्पाद्या प्रतिभा) का स्थान नीचा । दण्डी ने इसीलिए कहा है ।[2]

तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमा-
दुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः ।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृत-
श्रमाः विदग्धगोष्ठीसु विहर्तुमीशते ॥

अर्थात् नैसर्गिक प्रतिभा के न होने पर भी श्रुत, चिन्ता तथा भावना के द्वारा जो वाणी की साधना करे वह भी परिशुद्ध काव्यकृति से यशस्वी हो सकता है । 'मुझमें नैसर्गिक कवित्ववासना नहीं है' यह सोचकर जो आलस्य का अवलम्बन कर ले वह मनुष्य नहीं अपितु नरपशु है । आचार्य अश्वघोष ने आलस्य को संसार में एक महान् अनर्थ माना है । आचार्य अश्वघोष की इस सम्बन्ध में उक्ति है जिसे काव्यादर्श के व्याख्याकार आचार्य रत्नश्रीज्ञान (९ वीं १० वीं शताब्दी) ने उद्धृत किया है ।[3]

---

२. वही १.१०४ ।　　　१. वही १.१०५ ।

३. काव्यलक्षणरत्नश्री काव्यादर्शव्याख्या १.१०५ ।

आलस्यं यदि न भवेज्जगत्यनर्थः को
विद्वानिह न भवेद् धनेश्वरो वा।
आलस्यादवनिरियं ससागरा हि
सम्पूर्णा नरपशुभिश्च निर्धनैश्च ॥

इस प्रकार काव्यक्रिया में आलस्य छोड़कर काव्य और शास्त्र के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से आहार्य प्रतिभा की सम्पत्ति प्राप्त की जा सकती है। इतना ही नहीं, स्वयं काव्यक्रिया में आलसी होने पर भी यदि कोई अन्य कवियों के काव्यों का परिशुद्ध ज्ञान प्राप्त करे और काव्यरचना की ओर कुछ भी प्रवृत्त न हो तो सर्गबन्ध न सही, मुक्तक आदि की रचना में निपुण हो सकता है ओर कविगोष्ठी में स्थान पा सकता है। 'यदपि तदपि रम्यम्' की दृष्टि से ऐसे रचनाकार की कृति में भी, सम्भव है, कुछ परिश्रमसाध्य मौलिकता आ ही जाये।

दण्डी के अनुसार कवि की व्युत्पत्ति और उसकी मौलिक काव्यकृति

दण्डी ने कविप्रतिभा की सीमा का जो उपर्युक्त विस्तार किया है उसमें कवि और काव्य की मौलिकता के अभिप्राय का भी विस्तार समा जाता है। दण्डी ने भामह के काव्यलक्षण 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (काव्यालंकार १. १६) के बदले अपना जो यह लक्षण किया है[1]—

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम् ॥

उसमें भी कवि और काव्य की मौलिकता का सूक्ष्म निर्देश मिल जाता है। काव्यादर्श के व्याख्याता रत्नश्रीज्ञान ने दण्डी की दृष्टि में उसी पदावली को काव्यशरीर निर्धारित किया है जो कि 'रघुवंश', 'कुमारसंभव', 'किरातार्जुनीय' आदि काव्य अथवा 'महाकाव्य' के रूप में दिखाई देती है क्योंकि 'रघुवंश' आदि रूप पदावली ऐसी है, जिन्हें इनके यशस्वी कलाकारों के अभीष्ट अभिप्राय की शब्दमय मूर्ति कहना चाहिए। कालिदास और भारवि आदि महाकवियों का समस्त अभिमत 'रघुवंश' आदि रूप पदावली में स्पष्ट झलकता है। यहाँ यह अनुमान सहज में ही किया जा सकता है कि कालिदास आदि महाकवियों का अभीष्ट अभिमत उनकी पदावली के शोभाधायक धर्मों में नहीं अपितु उनके व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य में ही निहित हो सकता है। यदि ऐसी बात न होती तो 'रघुवंश' से कालिदास और 'किरातार्जुनीय' से भारवि का प्रत्यभिज्ञान कैसे हो पाता।

१. दण्डी काव्यादर्श १.१०,११।

'रघुवंश' आदि रूप पदावलियों की मौलिकता उनकी प्रातिस्विक विशेषता है जो कि उसके रचनाकारों के प्राचीन वाङ्मय सम्बन्धी श्रवण, मनन और चिन्तन से स्फूर्तिशील उनके काव्यात्मक प्रतिमान का परिणाम है। यह मौलिकता 'मौलिक मौलिकता' भले ही न हो क्योंकि 'रघुवंश' आदि रूप पदावलियों में गम्य अभिप्राय वस्तुतः प्राचीन वाङ्मय की ही धारणाओं और मान्यताओं के लोकरञ्जक सुन्दर संस्करण हैं, किन्तु इन पदावलियों पर इनके निबन्धकर्ताओं के व्यक्तित्व की अमिट छाप अवश्य पड़ी है। अनुकृत पदावली में यह बात नहीं हो सकती। कालिदास, भारवि आदि कवियों ने रघुवंश आदि रूप पदावली में काव्यशोभाकर तत्त्वों का बड़ा औचित्यपूर्ण तथा सुन्दर उपयोग और प्रयोग किया है। शब्द और अर्थ के सौन्दर्यवर्द्धक उपकरणों का प्रयोग अपने आप में 'सुप्रयोग' नहीं हो सकता। रघुवंश आदि काव्यकृतियों में अलंकारों का प्रयोग 'सुप्रयोग' है। इसीलिए ये कृतियाँ अपनी रचना के समय से ही लोकरञ्जक बनी हुई है। इनकी लोकरञ्जकता अधिक से अधिक काव्य-प्रेमियों को प्रभावित करती आ रही हैं और इसीलिए यह कल्पान्तर स्थायी भी बन चुकी हैं। शब्द और अर्थ के अलंकार अपने आप में शोभन अथवा सुन्दर नहीं हुआ करते। ये तभी शोभन अथवा सुन्दर बन सकते हैं जबकि इनका प्रयोग सुन्दर रूप से किया जाये। अलंकार सामान्य का 'सुप्रयोग' कवि के अभिमत के प्रकाशन की ओर संकेत करता है। कवि का जो भी अभिमत हो वह धर्म, अर्थ काम और मोक्षरूप चतुर्विध पुरुषार्थ में ही अन्तर्भाव पाता है। पुरुषार्थ चतुष्टय के प्रतिपादन होने के नाते 'शास्त्र' और 'काव्य' एक ही वाङ्मय पादप की दो शाखायें हैं। दोनों में भेद उनके शब्दात्मक शरीर की द्विविधता के कारण है। शास्त्र का शब्दात्मक शरीर शब्दानुशासन शास्त्र से शिष्ट और प्रयोग परम्परा से अनुशिष्ट पदावली रूप होता है जब कि काव्य का शब्दात्मक शरीर वक्रोक्तिमय हुआ करता है। काव्य 'वक्रोक्तिप्रधान' वाङ्मय है और शास्त्र प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रधान। काव्य की वक्रोक्ति प्रधानता भामह की अपेक्षा आचार्य दन्डी के विश्लेषण मे अधिक स्पष्ट है। दण्डी की दृष्टि में 'वक्रोक्ति' वह काव्य-रहस्य हैं जिसके मूल में कवि का व्यक्तित्व छिपा रहता है। भिन्न भिन्न व्यक्तित्व के जितने गम्यमान कवि हैं उतने ही उनके भिन्न भिन्न काव्यमार्ग हैं, जिनका सूक्ष्मभेद विश्लेषण की वस्तु नहीं अपितु स्वात्मसंवेदन की वस्तु है। आचार्य दन्डी ने इसीलिए कहा है[1]—'तद् भेदास्तु शकयन्ते वक्तुं प्रतिकवि-स्थिताः' 'वैदर्भ और गौड मार्ग का द्वैविध्य तो एक साधारणतया स्थूल दृष्टि

---

१. दन्डी : काव्यादर्श १.१०१।

से देखा गया द्वैविध्य है, किन्तु प्रत्येक कवि की अपनायी वैदर्भमार्ग और गौड-मार्ग की गति परस्पर भिन्न भिन्न है[1]

इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रति कविस्थिताः॥

उदाहरण के लिए दो महाकवियों को ये दो सूक्तियां देखिए[2]—

पहली

ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिंगितचन्दनासु।
तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं किञ्चन्मनस्ते मलयस्थलीषु॥

और दूसरी[3]

समीक्ष्यमाणस्ततजः क्षितीशः
क्षपाचरैर्हैमवपुश्चकाशेः।
सन्ध्याभिताभेर्जलभारमिश्रैः
पयोधरैर्मेरुरिवोपगूढः॥

ये दोनों सूक्तियां वैदर्भमार्ग के अनुगामी कवियों की ही हैं किन्तु जहाँ पहली अथवा कालिदास की सूक्ति का 'बन्ध' मृदु होते हुए भी शैथिल्यरहित है वहाँ दूसरी अथवा आर्यशूर की सूक्ति का बन्ध स्फुट होते हुए भी कृच्छ्रोद्य (उच्चारण में क्लेशकर) है। यह वैचित्र्य दोनों कवियों के स्वभाववैचित्र्य के कारण है और कवियों के स्वभाव वैचित्र्य में उनकी काव्यकृतियों की प्रतिविशिष्टता अथता मौलिकता की ही झलक मिलती है।

प्रत्येक गण्यमान काव्य अपने में अपनी प्रातिस्विक विशेषता अथवा मौलिकता संजोये रहता है। किसी काव्य की प्रातिस्विक विशेषता में उसकी लोकरञ्जकता का रहस्य छिपा रहता है। दन्डी के अनुसार सरस काव्य का माधुर्य उसी प्रकार काव्यप्रेमी को अपनी ओर आकृष्ट करता है जिस प्रकार फूल का रस सौरभ-मधुव्रत अथवा भ्रमर को। किन्तु कालिदास के काव्य की रसवत्ता अथवा मधुरता वही नहीं है जो आर्यशूर के काव्य की हैं। काव्यशास्त्र की दृष्टि से दोनों कवियों के काव्यों को सरस अथवा मधुर काव्य माना जायेगा किन्तु दोनों की सरसता अथवा मधुरता में महान् अन्तर है जिसका वर्णन सम्भवतः सरस्वती भी न कर सके। इस बात को दन्डी ने बड़े सुन्दर दृष्टान्त के साथ कहा है[4]।

---

१. दण्डी : काव्यादर्श १.१०१।
२. कालिदास : रघुवंश ६.६४।
३. आर्यसूर : जातकमाला ८.४१।
४. दन्डी : काव्यादर्श १.१०२।

इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत्।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते॥

दन्डी 'रस' के विषय में अभिव्यञ्जनवादी नहीं है। दन्डी ने कालिदास, और आर्यशूर की काव्यकृतियों में 'शब्दरस' और 'अर्थरस' की मधुरता का अनुभव किया है। यह 'शब्दरस' और 'अर्थरस' शब्द तथा अर्थ के अलंकारों के सुप्रयोग से साध्य है। इस शब्दरस और अर्थरस के पीछे कवि का वह 'भाव' विराजमान रहता है जिसे भामह की भाँति, वस्तुतः भामह से बढ़ कर, दन्डी ने अपने विश्लेषण का विषय बनाया है। यह 'भाव' कवि के मानस विकल्पों अथवा कल्पनाओं का एक सन्तान है जो आरम्भ से अन्त तक उसके प्रबन्ध में अन्तर्व्याप्त रहा करता है। काव्यदर्श के व्याख्याता रत्न श्रीज्ञान ने इसी लिए कहा है[1]—

'भावः कवेः प्रबन्धकर्तुरभिप्रायः प्रबन्धनिर्वाहकः प्रयत्नविशेषो विकल्पात्मकः।'

कवि के भावसन्तान की मौलिकता और काव्यप्रबन्ध की निष्पत्ति पर दण्डी के विचार

कवि का यह 'भावासन्तान' ही उसके काव्य प्रबन्ध के उपस्कारक अलंकारों के निर्माण और विन्यास का आश्रय हुआ करता है। एक कवि का 'भावसन्तान' दूसरे कवि के 'भावसन्तान' से भिन्न रूप होता है जिसके कारण काव्य प्रबन्धों का वैचित्र्य, अनायास सिद्ध हो जाता है। इस 'भाव' में कवि और काव्य की मौलिकता का निवास है। इस भाव के शासन में ही ऋतु, नगर, पर्वतादि समस्त काव्यवर्ण्य विषय परस्पर सापेक्षरूप से काव्य में सन्निवेश पाते हैं। यह 'भाव' कवि के मनस्तत्व का स्पन्दन है जिसके बिना उस 'पदावली' की सृष्टि सम्भव नहीं जो 'रघुवंश' किरातार्जुनीय' आदि रूप में अमर हो चुकी है। शब्द और अर्थ कविजन की साधारण काव्य सामग्री है किन्तु एक कवि का 'भावासन्ता 'दूसरे कवि का' भावसन्तान नहीं। इस भावसन्तान की प्रति विशिष्टता में काव्य की मौलिकता का स्वरूप पहचानना चाहिए। पदावली की प्रतिविशिष्टता तो इसको परिणाम रूप से हुआ करती है।

उद्भट का काव्य में मौलिकता तथा अनुहरण सम्बन्धी सिद्धांत तथा उसका प्रयोग

अब हम भामह के काव्यालंकार के व्याख्याकार उद्भट ८ वीं शताब्दी की कुछ काव्य सम्बन्धी मान्यताओं को देखते हैं जिनमें स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप

---

१. दन्डी : काव्यादर्श १.१०२।

से काव्य में मौलिकता 'की रूपरेखा कुछ प्रकाशित होती है। उद्भट ने' काव्यालंकार सारसंग्रह 'में स्वरचित' 'कुमारसम्भव' के श्लोकों को अलंकारों' के उदाहरण प्रदर्शन के लिए उद्धृत किया है। उद्भट का यह कार्य 'काव्य में मौलिकता' के सिद्धान्त के विरुद्ध प्रतीत होता है किन्तु साथ ही साथ इससे काव्य में मौलिकता' के सम्बन्ध में उद्भट की अपनी धारणा भी कुछ प्रकाश में आती है। 'काव्य में मौलिकता, अनुहरण और अनुकरण' की सीमायें, ऐसा लगता है मानो उद्भट की दृष्टि में अलग २ नहीं अपितु मिली जुली हैं। महाकवि कालिदास के कुमारसम्भव की कतिपय सूक्तियाँ देखिये[१]।

'असंभृतं मन्डनमङ्गयष्टे-
रनासवाख्यं करणं मदस्य।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं
बाल्यात्परं साऽथ वयः प्रपेदे॥
उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं,
सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवाऽरविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्त्रशोभि,
वपुर्विभक्तं नवयौवनेन॥
अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखप्रभाभि-
र्निक्षेपणाद्रागमिवोद्गिरन्तौ।
आजह्रतुस्तच्चरणौ पृथिव्यां
स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम्॥
चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुंक्ते,
पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोलां
द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः॥

इन सूक्तियों में पार्वती के सौन्दर्य का अतिसुन्दर वर्णन है। पार्वती-सौन्दर्य के इस वर्णन की उद्भट ने स्वरचित कुमारसम्भव के इन श्लोकों में रूपान्तरित किया है।[२]

स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिनी।
प्रभातसन्ध्येवास्वापफललुब्धे हितप्रदा॥

---

१. वही कालिदास : कुमारसम्भव १.३१,३२,३३,४३।
२. उद्भट : काव्यालंकारसारसंग्रह ४.२५ २७ तथा २.१४।

इन्दुकान्तमुखी स्निग्धमहानीलशिरोरुहा।
मुक्ताश्रीस्त्रिजगद्रत्नं पद्मरागाङ्घ्रिपल्लवा॥
अपारिजातवार्ताऽपि नन्दनश्रीभुवि स्थिता।
अविन्दसुन्दरी नित्यं गलल्लावण्यविन्दुका॥
पद्मं च निशि निःश्रीकं दिवा चन्द्रं च निष्प्रभम्।
स्फुरच्छायेव सततं मुखेनाधः प्रकुर्वतीम्॥

यहाँ यह निःसंदिग्ध है कि महाकवि कालिदास की सूक्तियां अपनी उद्भावना अथवा रचना में 'मौलिक' हैं और उद्भट का किया इनका रूपान्तरण इनकी सुन्दरता के शतांश का भी अधिकारी नहीं। किन्तु उद्भट के बाद के काव्याचार्य उद्भट के 'स्वयंच पल्लवाताम्र' आदि श्लोकों के अभंग और सभंग' श्लेष बन्ध का बड़े मनोयोग से विश्लेषण करते आ रहे हैं।[१] ऐसा तभी संभव है जब कि महाकवि कालिदास की उपर्युक्त सूक्तियों के इस रूपान्तरण में कुछ प्रतिस्विक विशेषता मानी जाये। यह विशेषता अलंकारान्तर के आभास के जनक अभंग और सभंग श्लेष की योजना ही हो सकती है अन्यथा कुछ नहीं। उद्भट अपने युग के एक प्रसिद्ध नाट्य शास्त्रवेत्ता तथा काव्यशास्त्रवेत्ता आचार्य हो चुके हैं। कालिदास के 'कुमारसम्भव' के प्रभाव में इन्होंने भी 'कुमारसंभव' की रचना की। भामह की दृष्टि में तो उद्भट को 'अन्य सारस्वत[२]' ही माना जायेगा क्योंकि कुमारसंभव की रचना के कारण उद्भट 'अन्योक्तानुवाद' के दोष से कदापि नहीं बचाये जा सकते। किन्तु काव्याचार्य मम्मट आदि आलंकारिक भी जो रसध्वनिवाद के समर्थक हैं, उद्भट के 'स्वयं च पल्लवाताम्र' आदि श्लोकों की 'चित्रकाव्यता' पर अवश्य मुग्ध प्रतीत होते हैं। यहां उद्भट के अभिप्राय की कल्पना यही की जा सकती है कि पूर्वकवि रचित काव्य का 'अनुवाद' भी काव्य ही है यदि उसमें अलंकार की योजना सुव्यवस्थित है। भामह के अनुसार मौलिकता का संबंध यदि कविप्रतिभा से है तो उद्भट के अनुसार मौलिकता व्युत्पत्ति में भी रह सकती है। संभवतः इसीलिए उद्भट ने कालिदास के 'रसतात्पर्यमय' कुमारसभव को अपने 'अलंकारतात्पर्यमय' कुमारसंभव के रूप में परिणत किया जिसे अलंकार वाद से प्रभावित पाठकों ने सहर्ष अपनाया। इससे काव्य में 'मौलिकता' के प्रतिपक्ष 'अनुवाद' के सिद्धान्त की मर्यादा के निर्धारण में उद्भट का योगदान अवश्य सिद्ध हो जाता है।

---

१. मम्मट : काव्यप्रकाश ९.११९ का उदाहरण तथा १०.२११ का उदाहरण
२. भामहः काव्यालंकार ६.६।

काव्याचार्य रुद्रट के अनुसार काव्यगत मौलिकता में तारतम्य

काव्याचार्य रुद्रट (९ वीं शताब्दी) अलंकारवाद के एक प्रमुख समर्थक हो चुके हैं। अलंकारों के वैज्ञानिक विश्लेषण के सिद्धान्तों में वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष के सिद्धान्त चतुष्टय के प्रवर्तक होने के कारण अलंकारवादी काव्याचार्यों में रुद्रट का एक प्रमुख स्थान और महत्त्व है। रुद्रट के अनुसार काव्य में रसयोजना भी अपेक्षित है किन्तु अलंकारबन्ध के बिना शब्दार्थसाहित्य में 'काव्यत्व' की विशेषता नहीं आ सकती। इसीलिए रुद्रट ने कहा है।[१]

ज्वलदुज्जवलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन् महाकविः काव्यम्।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि॥

अर्थात् ऐसा सरस काव्य जिससे कवि और साथ ही साथ नायक दोनों अमर हो जाये वही रचा करता है जो महाकवि होता है और जिसकी कृति अलंकारों के सौन्दर्य से देदीप्यमान तथा दोषों के राहित्य के कारण निर्मल हुआ करती है।

रुद्रट के अनुसार काव्य में 'चारुत्व' अथवा 'सौन्दर्य' असार के निरास और सार के ग्रहण के कारण संभव है। 'असारनिरास' का अभिप्राय, जैसा कि रुद्रट के काव्यालंकार के यशस्वी व्याख्याता नमिसाधु[२] ने किया है, दोष का त्याग है 'सारग्रहण' का अभिप्राय 'अलंकारयोग' हैं। निर्दुष्ट तथा अलंकारयुक्त काव्य की रचना-शक्ति अथवा कविप्रतिमा, व्युत्पत्ति अथवा निपुणता तथा अभ्यास, इस कारण त्रितय की महिमा से सम्भव है जैसा कि रुद्रट का कथन है[3]—

तस्यासारनिरासात् सारग्रहणाच्च चारुणः करणे।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः॥

शक्ति की महिमा से शब्दार्थसाहित्य कवि के मानसपटल पर अनायास स्फुरित हुआ करते हैं, व्युत्पत्ति की शक्ति से अलंकारयोजना तथा दोषपरित्याग का सामर्थ्य उत्पन्न होता है तथा अभ्यास के बल से प्रतिभा के प्रयास में अधिकाधिक साहाय्य मिलता है। रुद्रट की इस मान्यता में उनकी 'काव्य में मौलिकता" की भी मान्यता प्रकाशित हो रही है। रुद्रट के अनुसार कवि को 'अधिगत सकलज्ञेय'[४] होना चाहिए। वाल्मीकि, व्यास और कालिदास-जिनकी काव्य

---

१. रुद्रट काव्यालंकार १.४।

२. नमिसाधुः काव्यालंकारव्याख्या १.१४।

३. रुद्रट काव्यालंकार १.१४। ४. वही १.११।

सम्पत्ति से संस्कृत के कवि सम्पन्न होते रहे हैं वस्तुतः 'अधिगतसकलज्ञेय' थे। वाल्मीकि, व्यास और कालिदास अपने पूर्ववर्ती वाङ्मय में पारंगत थे और अपनी कारयित्री प्रतिभा से उन्होंने उस वाङ्मय की भी रचना की जो उनकी 'मौलिक कृति' है और जिसे हम रामायण और महाभारत और रघुवंश आदि के रूप में जानते और मानते आ रहे हैं। रामायण महाभारत और रघुवंश आदि कृतियां 'सर्वरम्य' काव्य कृतियां है। इनकी सर्वरम्यता के मूल में इनके रचनाकारों की चतुर, मधुर रसयोजना का रहस्य छिपा है जिसकी महिमा से अलंकारयोग और दोषत्याग सहज में ही सिद्ध हो जाते हैं। काव्य की सर्व-रम्यता का सम्बन्ध कवि की मौलिक प्रतिमा से ही हो सकता है। मौलिक प्रतिभा से प्रसूत सर्वरम्य रामायण, महाभारत और रघुवंश आदि की 'काव्य गत मौलिकता' प्रथम श्रेणी की मौलिकता होगी। संभवतः रुद्रट की यह उक्ति इन्हीं उपर्युक्त अभिप्रायों से भरी निकली है[1]।

एते रसाः रसवतो रमयन्ति पुंसः
सम्यग् विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्यं
काव्यं विधातुमलमत्र तदाद्रियेत ॥

किन्तु रुद्रट के अनुसार मौलिकता की एक दूसरी श्रेणी भी है जिसमें व्युत्पत्ति के द्वारा कथञ्चिद् उत्पाद्य प्रतिभा से प्रसूत काव्य रचनाओं को स्थान मिलता है। रुद्रट के अनुसार पुष्पोच्चय, जलविहार आदि काव्य-वर्ण्य विषय "काव्य स्थान' हैं।[2] चतुदर्श 'विद्यास्थान' की भांति अनन्त प्रकार के ये 'काव्य स्थान' कवियों के मननचिन्तन के विषय हैं। पुष्पोच्चय, जलविहार आदि, काव्य स्थान' का अनुसंधान भारवि ने किया होगा और भारवि के पुष्पोच्चय, जल विहार आदि का काव्यस्थान का अनुसन्धान माघ ने किया होगा। पुष्पोच्चय, जलविहार आदि काव्यस्थान तो काव्यसम्प्रदाय के रूप में कवि सामान्य के लिए एक समान है किन्तु अपने अपने काव्यप्रबन्ध में इन काव्य स्थानो की योजना में कालिदास और भारवि और माघ की भिन्नता स्पष्ट है। इस भिन्नता के मूल में इन कवियों की भिन्न अलंकारयोजनाका उतना हाथ नहीं है जितना इनकी भिन्न रसभावमयता का हाथ है। अलंकारयोजना की मौलिकता में ही यदि काव्य की मौलिकता मानी जाती तब सरस काव्य के स्थान पर चित्र काव्य का रचयिता महाकवि कहलाता। अमर अथवा यशस्वी कवि अपने प्राचीन काव्य सम्प्रदाय से जो भी ग्रहण करता है उसे अपनी प्रतिभा से प्रति

१. रुद्रट : काव्यालंकार १५.२१। २. वही १६.५।

विशिष्ट बना देता है और अपने बाद में आने वाले कविजन के लिए उसे अनुकरणीय कर देता है।

प्रतीहारेन्दुराज की समीक्षा में काव्यात्मक मौलिकता अथवा नवीनता

अलंकारशास्त्र के इतिहास में प्रतीहारेन्दु राज (१० वीं शताब्दी) का नाम उद्भट के काव्यालंकारसारसंग्रह के व्याख्याकार के रूप में प्रसिद्ध है। प्रतीहारेन्दुराज अपनी व्याख्या में उद्भट की मान्यताओं का ही स्पष्टीकरण नहीं करते अपितु वामन और रुद्रट की काव्यालोचना के प्रभाव में उद्भट के अलंकार विवेचन का भी विवेचन करते हैं। प्रतीहारेन्दुराज ध्वनिवादी नहीं किन्तु ध्वनिवाद की कतिपय धारणाओं के समर्थक अवश्य हैं। प्रतीहारेन्दुराज ने अपनी 'वृत्ति' में कविप्रतिभा' की महिमा का उल्लेख यत्र तत्र किया है। एक उल्लेख देखिये[1]।

'कविप्रतिभया खलु पुराणप्रजापतिनिर्मितशुष्कपरुषपदार्थविलक्षणाः सरसाः पदार्था अभिनवा एव निर्मीयन्ते ।'

अर्थात् 'ब्रह्मा की सृष्टि में जो पदार्थ नीरस प्रतीत होते हैं उन्हें कवि प्रतिभा ऐसा सरस बना देती है कि वे नये से, लोकविलक्षण से लगते हैं। यहाँ कवि प्रतिभा में नवीनता अथवा मौलिकता की सर्जनशक्ति बताई गई है। इस प्रतिभा के ही कारण लोकस्रष्टा ब्रह्मा पुराने रचयिता और काव्य रचयिता अभिनव प्रजापति माने जाते हैं। कवि की प्रतिभाप्रसूत वर्णना में ही काव्य के अलंकारों की रूप-रेखा दिखाई देती है। प्रतीहारेन्दुराज की दृष्टि में अनुप्रास और उपमा की भाँति रसभाव आदि भी काव्य के अलंकार हैं। किन्तु अलंकारों की योजना रसाभावादि की अभिव्यक्ति के अनुकूल होने पर ही वस्तुतः काव्य में अलंकारयोजना कही जाती है। प्रतीहारेन्दुराज ने उद्भट के उत्प्रेक्षा-निरूपण की वृत्ति में स्पष्ट कहा है।[2]

'अतएवान्यधर्माणां स्वधर्मिभूताद् वस्तुनः उत्कलितानां रसभावाद्यभिव्यक्त्यनुगुणतया वस्त्वन्तराध्यस्तत्वेन लब्धप्रकर्षाणामीक्षणादियमुत्प्रेक्षा। न हि वस्त्वन्तरधर्मा वस्त्वन्तरे समासङ्क्तुं शक्या इत्याशङ्क्योक्तम्, अतिशयान्विता इति। पुराणप्रजापतिविहितरूपविपर्यासेन कविवेधसा पदार्थस्य गुणातिशयविवक्षया रूपान्तरमप्यासङ्क्तुं शक्यत इत्यर्थः।

जिसका अभिप्राय यह है कि कवि काव्य जगत् का प्रजापति होता है वह अपने रसभावादि के प्रकाशन की दृष्टि से लोकगत किसी पदार्थ के धर्म को अपने वर्ण्य किसी अन्य पदार्थ में अध्यस्त अथवा संक्रान्त किया करता है। उत्प्रेक्षालंकार के सम्बन्ध में प्रतीहारेन्दुराज की यह धारणा अन्य अलंकारों के

१. प्रतीहारेन्दुराजः लघुवृत्ति ५.३। २. वही ६.६।

सम्बन्ध मे भी वस्तुतः लागू होती है। उत्प्रेक्षादि अलंकारों की याजना से ही प्रसन्न किंवा मधुर अथवा ओजस्वी काव्य में शोभाधिक्य का आधान होता है। किन्तु काव्य में अलंकारविन्यास से शोभातिशय के आधान के मूल में 'कविप्रतिभात' का रहस्य छिपा रहता है। यह कविप्रतिभा ही काव्य की अभिनव सृष्टि में कविप्रजापति की शक्ति है। लोकप्रसिद्ध शब्दों के उपनिबन्धन से काव्य में जो अर्थ झलक उठते हैं उसमें भी कविप्रतिभा का ही हाथ है। कविप्रतिभा का सम्बन्ध उस भाविक अलंकार से भी है जो काव्यप्रबन्ध का व्यापक गुण-सौन्दर्य है। प्रतिहारेन्दुराज ने यद्यपि यह स्पष्ट नहीं कहा कि 'भाविक' नामक अलंकार कवि की कारयित्री और सहृदय की भावयित्री प्रतिमा मे तादात्म्य की स्थापना है किन्तु उद्भट के भाविक निरूपण की वृत्ति में यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है[1]—

'अतएव चात्र कविसम्बन्धिनी भावस्य श्रोतृभावा भेदाध्यवसितस्य पुरः स्फुर······विद्यमानत्वाद् भाविकव्यपदेशः। भावोऽस्मिन् विद्यते इति भाविकम्। तदाहुः—

रसोल्लासी कवेरात्मा स्वच्छे शब्दार्थदर्पणे।
माधुर्योजोयुवप्रौढे प्रतिबिम्ब्य प्रकाशते॥
संपीतस्वच्छशब्दार्थद्रावितान्तरस्ततः।
श्रोता तत्साम्यतः पुष्टिं चतुर्वर्गं परां व्रजेत्॥

अलंकारवाद में ये विचार एक प्रकार से क्रान्तिकारी नहीं हैं किन्तु इन विचारों को प्रकाशित करते हुए भी प्रतीहारेन्दुराज ने 'भाविक' के उदाहरणरूप में उद्भटरचित 'कुमारसम्भव' की ही यह सूक्ति प्रस्तुत की है[2]—

करोति पीडां प्रीतिं च निरञ्जनविलोचना।
मूर्त्यानया समुद्वीक्ष्य नानाभरणशोभया॥

इस प्रसंग में महाकवि कालिदास की मौलिक कृति कुमारसम्भव से जो काव्यप्रेमी परिचित है उन्हें उद्भट के 'कुमारसम्भव' की उपर्युक्त सूक्ति मौलिक रचना नहीं अपितु 'अनुवाद' अथवा रूपान्तर ही प्रतीत होगी। कालिदास के 'कुमारसम्भव' की यह सूक्ति देखिए[3]—

किमित्यपास्याभरणानि यौवने
धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम्।

---

१. प्रतिहारेन्दुराज : लघुवृत्ति ६.७। २. उद्भट : कुमारसंभव।
३. कालिदास : कुमारसंभव ५.४४।

वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका
विभावरी यथारूणाय कल्पते ॥

और उद्भट का ऊपर उद्धृत उसका पद्यानुवाद देखिए। प्रतीहारेन्दु राज को 'भाविक' अलंकार की भव्यशोभा कालिदास की सूक्ति में ही दिखाई देनी चाहिए थी। किन्तु उन्होंने उद्भट की भाँति उसे उद्भट के ही कुमारसम्भव के श्लोक में देखा। यह सब इस ओर संकेत करता है कि अलंकारवाद की दृष्टि में मौलिकता कविप्रतिभा की अभिव्यक्ति अवश्य है किन्तु साथ ही साथ नैसर्गिक प्रतिभा ही कविप्रतिभा नहीं अपितु काव्य-साहित्य के अनुशीलन से भी एक प्रकार की कविप्रतिभा पाई जा सकती है जिसका प्रसार प्राचीन काव्यकृतियों के अनुवाद अथवा रूपान्तर में हुआ करता है। प्राचीन काव्य-कृतियों के अनुवाद अथवा रूपान्तर में भी व्युत्पत्तिजन्य प्रतिभा से सम्पन्न कवि अलंकारों की नयी योजना अथवा प्रसन्न पदावली की रचना द्वारा अपनी मौलिकता अथवा नवीनता का प्रकाशन कर सकता है। नैसर्गिक कवि प्रतिभा के अभाव में उत्पाद्य कविप्रतिभा भी काव्यप्रबन्ध के निर्माण में समर्थ है—इस अभिप्राय का निवेदन काव्यादर्श के व्याख्याकार रत्नश्रीज्ञान की इस उक्ति में स्पष्ट है।[1]

"वचनमिदमिदं च वस्तु नैतत्
समुचितमत्र निषेव्यमन्यदेव ।
प्रहतमिदमपूर्वमीच्यमित्थं
कथमपि सिद्धिमुपैतिवाक्प्रबन्धः ॥

अलंकारवाद की दृष्टि में 'चिरन्तन' अथवा 'अधुनातन' की समस्या मौलिकता की समस्या नहीं। मौलिकता नैसर्गिक अथवा आहार्य प्रतिभा के बल पर प्रसन्न अथवा समुज्ज्वल काव्यरूप पदावली के निर्माण में ही देखी जानी चाहिये। रत्नश्रीज्ञान ने इसी धारणा का प्रकाशन इस उक्ति में किया है[2]—

चिरन्तनो वा कविरद्य वा स्फुटं
गुणोत्तरं वाक्यमुपास्यते बुधैः ।
तरोः पुराणस्य नवस्य वा फलं
निरस्तशंकं मधुरं निषेव्यते ॥

---

१. रत्नश्रीज्ञान : काव्यादर्शव्याख्या ३.१८७ की व्याख्या ।

२. वही ।

रीतिवाद की दृष्टि में काव्य में मौलिकता

रीतिवाद के प्रवर्तक आचार्य वामन (८वीं शताब्दी) ने काव्य में मौलिकता के सम्बन्ध में कुछ सूक्ष्म संकेत दिये हैं जिन्हें उनकी 'रीति' के सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में देखने पर उनकी दृष्टि में 'मौलिक काव्यकृति' का स्वरूप दर्शन किया जा सकता है। दन्डी की भाँति वामन के अनुसार भी 'प्रतिभान' ही कवित्व का बीज है। 'प्रतिभान' को कवित्व के बीज के रूप में मानने का कारण यही है कि 'प्रतिमान' की ही महिमा से कवि जन के हृदय में अभिनन पदार्थ का स्फुरण हुआ करता है। कवित्व एक शब्द में 'लोकोत्तरवर्णना में नैपुण्य अथवा कौशल है और जैसे एक बीज ही अंकुर पत्र पुष्प फलादि की नई नई सृष्टि का मूलकारण हैं वैसे ही कवित्व बीज 'प्रतिभान' ही काव्य की नई सृष्टि का मूल निदान है[१]।

काव्य में मौलिकता का निदान 'प्रतिभान'

यह 'प्रतिभान' एक संस्कार विशेष है जो कि जन्मजन्मान्तर से प्राप्त हुआ करता है। 'प्रतिभान' की यह मीमाँसा इस बात का संकेत करती है कि जो भी व्यक्ति महर्षि वाल्मीकि अथवा महाकवि कालिदास के रूप में आज भारत ही नहीं अपितु विश्व के काव्य साहित्य के क्षेत्र में प्रसिद्ध है उसकी आत्मा, जन्म जन्मान्तर से कवित्व की वासना से वासित होती रही है। वस्तुतः इसी लिए 'वाल्मीकि का प्रतिपक्षी कोई दूसरा नहीं हुआ और न 'कालिदास' का ही प्रतिस्पर्द्धी कोई दूसरा बन सका। यही बात अन्य महाकवियों के सम्बन्ध में भी है। वामन ने स्पष्ट कहा है कि विना 'प्रतिभान के भी लोग काव्य-बन्धों की वचना किया करते हैं किन्तु उनकी कृतियां 'काव्य' का अमर पद नहीं पाती अपितु पाठकों की दृष्टि में उपहासास्पद सिद्ध होती है।[2]

'कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजम्। जन्मान्तरागतसंस्कारविशेषः कश्चित्।
यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते। निष्पन्नं वा हास्यायतनं स्यात्।'

अर्थात् 'प्रतिभान' के विना 'काव्य' की निष्पति सम्भव नहीं और यदि 'प्रतिभान रहित लोग काव्य बन्धों की रचना करे भी तो वह 'काव्य' नहीं अपितु 'काव्य का उपहास' मानी जायेगी।

आचार्य वामन की इस मान्यता को 'काव्य प्रकाश' के रचयिता आचार्य मम्मट ने वस्तुतः उन्हीं के शब्दों को रूपान्तरित कर, बड़े उल्लास के साथ अभिव्यक्त किया है।[3]

---

१. काव्यालकारसूत्रवृत्ति : कामधेनुव्याख्या से युक्त १.३.१६ परिशिष्ट।
२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १.३.१६। ३. काव्य प्रकाश प्रथम उल्लास।

'शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात् ।,

अर्थात् 'कवित्व की बीजरूप शक्ति एक आत्मगत संस्कार विशेष है जिसके न रहने पर 'काव्य' की रचना नहीं हुआ करती और जो भी 'काव्य बन्ध' रचे जाते हैं वे उपहास के ही पात्र होते हैं ।'

संस्कृत काव्य साहित्य के इतिहास में जो भी 'काव्य बन्ध' अमर हो चुके हैं उनके रचनाकार इसी 'प्रतिभान' अथवा 'कवित्व शक्ति' के सद्भाव में अपनी उन काव्य कृतियों से आज अमर हैं जो मौलिक काव्य कृतियाँ हैं । 'अभिनव पदार्थ की स्फूर्ति 'और मौलिकता' एक ही वस्तु के दो भिन्न भिन्न नाम हैं। जिस तत्त्व को वामन आदि संस्कृत के प्राचीन काव्याचार्य 'प्रतिभान' अथवा 'कवि शक्ति' के रूप में प्रतिपादित कर चुके हैं वही आंग्ल साहित्य की काव्या लोचना में Originality अथवा मौलिकता के रूप में प्रतिपादित है । 'मौलिकता' अथवा नवीन अर्थ की उद्भावना अथवा 'नवीन अर्थ का परिस्फुरण' ही वह परम कारण है जिससे वाल्मीकि रामायण के वृत्तचरित के आधार पर रचित 'रघुवंश' आदि महाकाव्य और उत्तररामचरित' आदि महारूपक अपने अपने प्रतिस्विक व्यक्तित्व के ऐश्वर्य में विराजमान हैं । वाल्मीकि की आत्मा जन्म जन्मान्तर से करुण-वेदिता की वासना से सुवासित रही और इसी लिए क्रौंचद्वन्द्व के वियोग की वेदना के दृश्य से प्रेरित हो रामायण के 'करुण रस' के रूप में अभिव्यक्त हुई। रामायण संस्कृत का 'आदि काव्य' है इसकी मौलिकता तो कालक्रम से भी आदिम अथवा प्राथमिक प्रतिभान की मौलिकता है। रघुवंश की मौलिकता भी प्रतिभान की ही मौलिकता है किन्तु मौलिकता के ऐसे स्वरूप के विमर्श में कुछ अन्य आनुषंगिक तत्त्व भी प्रतीत होते हैं जो प्रतिभान के परिकर-बन्ध के रूप में प्रतीत होते हैं ।

प्रतिभान के परिकर बन्ध

वामन ने 'प्रतिभान' के आनुषंगिक तत्वों को काव्यांग के रूप में प्रतिपादित किया है । वामन के अनुसार काव्यांग त्रिविध है[1] ।

'लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्यांगानि ।'

इन तीन काव्यांगो में लोक का स्थान सर्वप्रथम है । 'लोक' का अभिप्राय समस्त स्थावर और जंगम जगत् और उसकी जीवन चर्या से है[2] । प्रतिभान' रूप

१. काव्यालंकारसूत्र १.३.१ ।

२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १.३.२ ।

'कवित्व बीज' के लिए लोकजीवन के अनुभव अथवा लोकजीवन के अवेक्षण वस्तुत: उर्वर क्षेत्र का काम करते हैं। वामन ने काव्यांगो में 'प्रतिभान' को प्राथमिकता नहीं दी। वामन की दृष्टि में प्रतिभान' प्रकीर्ण से स्थान पाता है। वामन के सूत्राक्षर ही इसके साक्षी है।

'लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम्।

अर्थात् तीसरा काव्यांग जिसे एक शब्द में 'प्रकीर्ण' कह सकते हैं निम्नलिखित तत्व संग्रह है जिसपर काव्य रचना निर्भर है।

१. लक्ष्यज्ञत्व।	२. अभियोग।	३. वृद्धसेवा।
४. अवेक्षण।	५. प्रतिभान।	६. अवधान।

प्रतिभान और लक्ष्यज्ञत्व

इस तत्त्व संग्रह में 'प्रतिभान' और 'लक्ष्यज्ञत्व' में जो उपकार्योपकारकभावरूप सम्बन्ध है वह कालिदास की कवित्व शक्ति और रामायण की मौलिकता के समस्पर्धी रघुवंश की मौलिकता में स्पष्ट परिलक्षित होता है। कालिदास में कविप्रतिभा थी और साथ ही साथ अन्य प्राक्कालीन अथवा समकालीन काव्यकारों के काव्य का पूर्णपरिचय था। यदि कालिदास में इन दोनों का परस्पर सम्मिलित सामर्थ्य न होता तो संस्कृत का काव्य साहित्य रघुवंश की अजर ओर अमर कृति से वंचित ही रहता। कालिदास वाल्मीकि रामायण के बहिरंग और अन्तरंग दोनों के परम मर्मज्ञ रहे, कालिदास की काव्य भावना महाकवि भास और महाकवि शूद्रक के रूपक काव्यों में उच्छ्वसित और उल्लसित होती रही। रघुवंश वस्तुत: वाल्मीकि रामायण की अगणित काव्यात्मक भावमणियों का ही एक अमूल्य अथवा बहु मूल्य रत्नहार है जिसे कालिदास ने अपनी कवि प्रतिभा के पूर्ण उन्मेष में, अपनी वेदर्भी शैली में, पिरोया है। महाकवि भास की काव्य सूक्तियां कालिदास से हृदय में निरन्तर गूँजती रहीं। संस्कृत काव्य का कौन ऐसा सहृदय पाठक है जो यह नहीं जानता कि महाकवि भास की ही कतिपय मौलिक काव्य सूक्तियां कालिदास की परम रमणीय काव्यसूक्तियों की आधार भूमि है। उदाहरण के लिए महाकवि भास की निम्नलिखित एक सूक्ति लीजिये।[1]

अहव सव्वं अलंकारो होदि सुरुवाणं।
(अथवा सर्वमलंकारो भवति सुरूपाणाम्')

इस उपयुक्त सूक्ष्म सूक्ति को देखिये और इस सूक्तिरूप 'लक्ष्य' से महाकवि

---

१. भास: अविभारक द्वितीय अंक।

कालिदास का घनिष्ठ परिचय देखिये जो उनकी परमरमणीय निम्नोद्धृत सूक्ति में स्पष्ट है ।[१]

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥

यहां 'अनुकरण' की गन्ध तो दूर रहे, अनुहरण' की भी गन्ध नहीं । यहां शुद्ध मौलिकता है । भास ने निर्व्याज मानव सौन्दर्य के सम्बन्ध में कालिदास को एक संकेत दिया और कालिदास ने, उस संकेत के सहारे, प्रकृति और मानव 'के सौन्दर्य में' 'निर्व्याजता' अथवा 'अनाहार्यता' की एक रूपता का दर्शन किया । यह दर्शन कालिदास का 'प्रतिभान' ही है अथवा इसे कालिदास की प्रतिभाशक्ति का परिणाम मानिए । इसमें तत्त्वत: कोई अन्तर नहीं ।

प्रतिभान और अभियोग

अभियोग का स्वरूप वामन के शब्दों में यह है[२]

'काव्यबन्धोद्यमोऽभियोगः ।
बन्धनं बन्धः । काव्यरूपबन्धो रचना काव्यबन्धः ।
तत्रोद्यमोऽभियोगः । स हि कवित्वप्रकर्षमादधाति ॥

अर्थात् अभियोग का अभिप्राय काव्य रचना में उद्योग से है । केवल प्रतिभान से ही काव्यबन्ध नहीं बन सकते जब तक कि काव्य रचना के प्रति उद्योग शीलता नहीं । काव्य-रचना के प्रति उद्योगशीलता के लिए काव्यरूपी लक्ष्य का ज्ञान इसीलिए प्रथमत: अनिवार्य है जैसा कि वामन ने स्पष्ट कहा है[३]

तत्र काव्यपरिचयो लक्ष्यज्ञत्वम् ।

अर्थात् अन्य कविकृत काव्यबन्धों से पूर्णपरिचित होने पर ही किसी कवि में अपनी काव्य-रचना के सम्बन्ध में व्युत्पत्ति उत्पन्न होती है अन्यथा नहीं ।

काव्य निर्माण में अभियोग अथवा आस्थापूर्वक रचनाभ्यास जब तक न हो तब तक प्रतिभान-रूप कवित्व बीज से अंकुर कैसे निकलेंगे ? अन्य कवि रचित काव्यों से परिचित होने के उपरान्त काव्य रचना के प्रति प्रयत्नशीलता का अभिप्राय अन्य कवि रचित काव्यों की प्रवृत्तियों और विशेषताओं का 'अनुकरण' करना नहीं अपितु 'अनुहरण' करना है । जब कोई कवि किसी अन्य

---

१. अभिज्ञान शाकुन्तल: १०.१७ ।
२. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १.३.१३ । ३. वही १.३.१२ ।

काव्य का जिससे वह परिचित और प्रभावित है, अनुकरण करता है तब वह वस्तुतः अपने प्रतिभानरूप कवित्वबीज का उपयोग नहीं करता। वह अपने प्रतिभान की हीनता का ही मूल संकेत करता है। किन्तु परिचित काव्यकृति के अनुहरण की बात दूसरी होती है। परिचित काव्य-बन्ध के अनुहरण में किसी कवि की जो प्रयत्नशीलता होती है उसमें उसके प्रतिभान की महत्त्व-कांक्षा का विकास होता है। अनुकरण परिचित काव्य-बन्ध की दासता का स्वीकरण है किन्तु अनुहरण परिचित काव्यबन्ध के समस्पर्धी एक नवीन काव्य-बन्ध के निर्माण का स्वसंवेद्य आनन्द और ऐश्वर्य है। वामन की दृष्टि 'लक्ष्यज्ञत्व' और 'अभियोग' के पूर्वापरभाव में मौलिक काव्य सृष्टि की प्रक्रिया का दर्शन कर रही है।

लक्ष्यज्ञत्व के बाद अभियोग के सामर्थ्य से किसी काव्य रचनाकार की नवीन काव्य सृष्टि की महत्त्वाकांक्षा पूरी हो सकती है। काव्य निर्माण के प्रति सतत् अभियोग की क्रिया में सर्वथा नवीन कल्पनाओं और उद्भावनाओं का भी स्थान है और साथ ही साथ परिचित काव्यों की कल्पनाओं और उद्भा-वनाओं के अनुहरण का भी महत्त्व है। मौलिकता नई कल्पनाओं के विलास में भी है और पुरानी उद्भावनाओं की नवीन शैली में अवतारणा में भी।

प्रतिभान और वृद्ध सेवा

कविप्रतिभा के सम्यक् प्रसार के लिए 'वृद्ध सेवा' आवश्यक होती है। वृद्ध सेवा का स्वरूप वामन के शब्दों में निम्नलिखित है[१]

'काव्योपदेशगुरूसुश्रूषणं वृद्धसेवा'

काव्योपदेशे गुरवः उपदेष्टारः। तेषां सुश्रूषणं वृद्धसेवा।

ततः काव्यविद्यायाः सङ्क्रान्तिर्भवति।

अर्थात् 'काव्य के मर्मज्ञ सहृदय पाठकों अथवा समीक्षकों का सान्निध्य काव्य निर्माण के लिए अत्यन्त उपयोगी है। क्योंकि इसी से कोई कवि अपने में काव्य निर्माण कौशल का आधान करता है।' जब तक किसी कवि को काव्य-तत्त्वज्ञानियों का सम्पर्क न हो तब तक उसकी प्रतिभा का समीचीन सर्वतोमुखी विकास नहीं हो सकता। काव्यज्ञसुश्रूषा अथवा काव्यमर्मज्ञसान्निध्य के अभाव में कवि प्रतिभा में ऐसी उच्छृंखलता आ सकती है जिससे मौलिक काव्यसृष्टि दूषित हो जाए। वामन ने काव्य में 'असम्भव' नामक एक दोष माना है

---

१. काव्यालंकारसूत्र तथावृत्ति १.३.१४।

जिसका अभिप्राय अनुपपत्ति अथवा उपमान की असम्भावना है। इस दोष के उदाहरण में उन्होंने निम्नलिखित सूक्ति उद्धृत की है[2]।

चकास्ति वदनस्यान्तः
स्मितच्छायाविकासिनः
उन्निद्रस्यारविन्दस्य
मध्ये मुग्धेव चन्द्रिका॥

इस सूक्ति का अभिप्राय यह है—

'इस सुन्दरी के प्रसन्न मुख में स्मित की शोभा ऐसी मनोरम लग रही है जैसे खिले कमल में चाँदनी की शुभ्ररेखा की शोभा मनोहर होती है। इस सूक्ति का रचयिता कौन है, हम नहीं जानते किन्तु इतना निश्चित है कि इस सूक्ति के रचयिता में 'नई काव्यात्मक उद्भावना' की बलवती आकांक्षा है और कवि-प्रतिभान का भी विश्वास है जिसके बलपर उसने 'किसी सुन्दरी के' सुन्दर मुख में स्मित की मधुर शोभा 'के वर्णन के लिए एक अद्भुत उपमान अर्थात् 'विकसित कमलकोश में चन्द्रमा की मनोहर रश्मि रेखा' की कल्पना कर डाली है किन्तु यह कवि 'वृद्ध सेवा' अथवा किसी काव्यकोविद पाठक अथवा समीक्षक के सान्निध्य से वञ्चित प्रतीत होता है क्योंकि कमलकोश के अन्तराल में चन्द्रिका की शोभा' लोकदर्शन की कसौटी पर, एक असम्भावना ही सिद्ध होती है। इस उपमान की पृष्ठभूमि में न तो प्रकृति का पर्यवेक्षण है और न कवि समय का अनुशीलन। वृद्ध सेवा प्रतिभा को काव्य के राजपथ पर प्रगतिशील बना सकती है और कवियों की उद्भावनाओं को काव्याभास होने से बचा सकती है। इसीलिए वामन की काव्यमीमांसा में वृद्ध-सेवा प्रतिभान के परिकर बन्ध का एक प्रमुख अंग है।

प्रतिभान और अवेक्षण

कुछ काव्याचार्य कविप्रतिभा को ही काव्य के समस्त अंगों और उपांगों का निष्पादक मानते हैं। कविराज राजशेखर के निम्नलिखित कथन में भी यही बात प्रतीत होती है[1]।

'या शब्दग्राममर्थसार्थमलंकारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव, प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव,।

अर्थात् 'प्रतिभा' को इसीलिए प्रतिभा कहते हैं क्योंकि उसी की महिमा से शब्द और अर्थ, अलंकार और उक्तिवैचित्र्य तथा अन्य समस्त काव्योपकरण

२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ४०.२.२०। १. काव्यमीमांसा : चतुर्थ अध्याय।

कवि के हृदय-पटल पर प्रकाशित हुआ करते हैं। जिसमें प्रतिभा नहीं उसके लिए समस्त पदार्थ परोक्ष से रहा करते हैं और जो प्रतिभासम्पन्न है वह चर्मचक्षुओं के अभाव में भी सब कुछ प्रत्यक्ष देखता है।

किन्तु आचार्य वामन ने प्रतिभान अथवा कविप्रतिभा की प्रगति में 'अवेक्षण' की आवश्यकता का अनुभव किया है। अवेक्षण की उनकी परिभाषा निम्नलिखित है[१]—

पदाधानोद्धरणमवेक्षणम्

पदस्याधानं न्यासः। उद्धरणमपसारणम्। तयोः खल्ववेक्षणम्।

अत्र श्लोकौ :

आधानोद्धरणे तावद्यावद्दोलायते मनः।
पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती॥
यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते॥

इसका अभिप्राय यह है कवि की प्रतिभा की शब्दमूर्ति तभी चतुरस्र बन सकती है जब रचयिता में 'अवेक्षण' हो जिसके बलपर उसकी पदयोजना काँपती नहीं अपितु स्थिर रूप से चला करती है। निष्कम्प पदविन्यास के लिए प्रतिभान के परम उपकारक 'अवेक्षण' की आवश्यकता वस्तुतः अनिवार्य है क्योंकि बिना इसके 'रीति' रूप काव्य का आत्मतत्व अपने पूर्ण वैभव में अभिव्यक्त नहीं हो पाता। महाकवि कालिदास के रघुवंश की आरम्भिक मंगल-सूक्ति देखिये[२]—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

इस सूक्ति में महाकवि की प्रतिभा के परम सेवक, उनके 'अवेक्षण' के कारण ही, उनकी काव्य योजना के 'पद' निष्प्रकम्प रूप से पड़ रहे हैं। महाकवि की भावना में शब्द और अर्थ में अर्धनारीश्वर का सा अपृथक्-सिद्धि का सम्बन्ध प्रतिफलित हो रहा है। महाकवि के मन में उनकी प्रतिभा ने इस सूक्ति में प्रयुक्त पदों के कई पर्याय उपस्थित किये होंगे किन्तु 'अवेक्षण' ने उन्हीं पदों का विन्यास कराया जिनसे उनकी सरस्वती की सिद्धि पूर्ण प्रकाश में आयी। महाकवि के प्रयुक्त प्रत्येक पद ऐसे हैं जिनका परिवर्तन करने पर वृत्तबन्ध भले ही बन सके, काव्यबन्ध कदापि नहीं बन सकता। महाकवि क्षेमेन्द्र ने कालिदास की इस काव्यसूक्ति के प्रत्येक पद का परिवर्तन कर

---

१. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १०३.१५। २. रघुवंश १.१।

काव्यरचना के अभ्यास करने वालों के लिए वृत्त-बन्ध का एक संकेत किया है जो कि निम्नलिखित है[1]—

वाण्यर्थाविव संयुक्तौ वाण्यर्थप्रतिपत्तये।
जगतो जनकौ वन्दे शर्वाणीशशिशेखरौ॥

इस उपर्युक्त श्लोक वाक्य में, जैसा कि क्षेमेन्द्र का ही स्पष्ट कथन है महाकवि कालिदास की 'वागर्थाविव' आदि प्राचीन काव्यसूक्ति के पदों के परिवर्तन से वृत्त पूरणमात्र किया हुआ है जो कि काव्यरचना का अभ्यास करने वालों की प्रथम शिक्षा है—

श्लोकं परावृत्तपदैः पुराणं
यथास्थितार्थं परिपूरयेच्च।

किन्तु सहृदय काव्य पाठकों से यह छिपा नहीं है कि महाकवि कालिदास के अवेक्षण से सन्नद्ध उनका प्रतिभान 'वागर्थाविव' के रूप मे एक अमर काव्य सूक्ति की सृष्टि कर चुका है जबकि 'वाण्यर्थाविव' आदि श्लोकवाक्य वृत्तपूर्ति के दृष्टान्त-रूप में ही जन्म लेकर गतप्राण बन गया है।

प्रतिभान और अवधान

जन्मजन्मान्तरागत कवित्व वासना के पूर्ण उन्मेष में जिस काव्यांग का हाथ है वह 'अवधान' है। इस 'अवधान' की परिभाषा वामन ने यह दी है[2]—

चित्तैकाग्र्यमवधानम्।
चित्तस्यैकाग्र्यं बाह्यार्थनिवृत्तिस्तदवधानम्।
अवहितं हि चित्तमर्थान् पश्यति।
तद्देशकालाभ्याम्।
तदवधानं देशात् कालाच्च समुत्पद्यते।
विविक्तो देशः।
विविक्तो निर्जनः।
रात्रियामस्तुरीयः कालः।
रात्रेर्यामो रात्रियामः प्रहरस्तुरीयश्चतुर्थः काल इति।
तद् वशाद् विषयोपरतं चित्तं प्रसन्नमवधत्ते॥

अर्थात् प्रतिभान के द्वारा अभिनव काव्यार्थ के स्फुरण में कवि के चित्त की

---

१. कविकण्ठाभरण १०.११।

२. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १.३.१७–२०।

एकाग्रता (अवधान) नितान्त अपेक्षित है । बिना चित्त के समाहित हुए अर्थ का दर्शन नहीं हो सकता । कवि की 'समाधि' के लिए एकान्त स्थान और निश्चिन्त समय दोनों बाह्यांग आवश्यक हैं ।

आचार्य वामन ने जिस 'अवधान' को नवीन काव्यार्थ दर्शन और नवीन काव्य निर्माण के लिए प्रतिभान का परमोपकारक माना है उसके सम्बन्ध में संस्कृत के महाकवियों का व्यक्तिगत अनुभव साक्षी है । महाकवि कालिदास ने ब्राह्ममुहूर्त में अपनी काव्य चेतना के संप्रसाद अथवा अपनी काव्यार्थ समाधि की संप्रतिष्ठा का अपनी निम्नोद्धृत सूक्ति में बड़ा प्रभावशाली उल्लेख किया है[1]—

'पश्चिमोद्यामिनीयामात्

प्रसादमिव चेतना ।'

ब्राह्ममुहूर्त में चित्त के अवधान से अभिनव काव्यार्थ के उन्मेष के सम्बन्ध में महाकवि माघ भी अपने अनुभव का ही उल्लेख करते हुए कह चुके हैं[2]—

गहनमपररात्रप्राप्तबुद्धिप्रसादः

कवय इव महीपाश्चिन्तयन्त्यर्थजातम् ।

अवधान का प्रतिभान के साथ वही सम्बन्ध है जो कि जलसेक का बीजांकुरण के साथ है । नवीन काव्य की सृष्टि के ये उपकरण जिस व्यक्ति के भी सामर्थ्य के भीतर होंगे उसकी रचना में मौलिकता अथवा नवीनता का सौरभ मिलेगा ।

अभिनव काव्यार्थ के स्फुरण में कवि के लिए लोकावेक्षण और सपरिकर प्रतिभान के साथ-साथ, 'विद्या' का उपार्जन भी अपेक्षित है क्योंकि बिना इसके जीवनोपयोगी काव्यामृत की निष्पत्ति नहीं हो सकती । आचार्य वामन ने काव्यांगभूत 'विद्या' का निम्नलिखित वर्णन किया है[3]—

शब्दस्मृत्यभिधानकोशच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्रदण्डनीतिपूर्वा विद्याः ॥

शब्दस्मृतेः शब्दशुद्धिः ।

शब्दस्मृतेर्व्याकरणाच्छब्दानां शुद्धिः साधुत्वनिश्चयः कर्त्तव्यः शुद्धानि हि पदानि निष्कम्पैः कविभिः प्रयुज्यन्ते ।

अभिधानकोशात् पदार्थनिश्चयः ।

पदं हि रचनाप्रवेशयोग्यं भावयन् संदिग्धार्थत्वेन न गृह्णीयान्न वा जह्यादिति काव्यबन्धविघ्नः । तस्मादभिधानकोशतः पदार्थनिश्चयः कर्त्तव्य इति ।

---

१. रघुवंश । २ शिशुपालवधः ११ ।

३. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति १.३.३ ।

छन्दोविचितेर्वृत्तसंशयच्छेदः ॥

काव्याभ्यासाद् वृत्तसंक्रान्तिर्भवत्येव । किं तु मात्रावृत्तादिषु क्वचित्संशयः स्यात् । अतो वृत्तसंशयच्छेदश्छन्दोविचितेर्विधेय इति ।

कलाशास्त्रेभ्यः कलातत्त्वस्य संवित् ॥

कला गीतनृत्यचित्रादिकास्तासामभिधायकानि शास्त्राणि विशाखिलादिप्रणीतानि कलाशास्त्राणि, तेभ्यः कलातत्त्वस्य संवित् सवेदनम् । नहि कलातत्त्वानुपलब्धौ कलावस्तु सम्यङ्निबन्धुं शक्यमिति ।

कामशास्त्रतः कामोपचारस्य ।

'संवित्' इत्यनुवर्तते । कामोपचारस्य संवित् कामशास्त्रत इति ।

कामोपचारबहुलं हि वस्तु काव्यस्येति ।

दण्डनीतेर्नयापनययोः ।

दण्डनीतेरर्थशास्त्रान्नयस्यापनयस्य च संविदिति । तत्र षाड्गुण्यस्य यथावत्प्रयोगो नयः । तद्विपरीतोऽपनयः । नहि तावविज्ञाय नायकप्रतिनायकयोर्वृत्तं शक्यं काव्ये निबन्धुमिति ।

इतिवृत्तकुटिलत्वं च ततः ।

इतिहासादिरितिवृत्तं काव्यशरीरं, तस्य कुटिलत्वं ततो दण्डनीतेर्बलीयस्त्वाबलीयस्त्वादिप्रयोगो वर्णनीय इति ।'

इस उपर्युक्त उद्धरण में काव्यनिर्माण और उसकी मौलिकता के सम्बन्ध में बहुत सी बातों का उल्लेख किया हुआ है। इस निर्देश का हम इस प्रकार सारांश ग्रहण कर सकते हैं—

'काव्यनिर्माण के लिए अपेक्षित विद्याओं और कवि के प्रतिभान में वही सम्बन्ध है जो कि भिन्न-भिन्न प्रकार के उर्वरक (खाद) और बीज के प्रस्फुटन में दिखाई देता है। विद्याओं के उपार्जन के उपरान्त ही प्रतिभान का बीज 'रघुवंश' सरीखे काव्यवृक्ष के रूप में परिणत हो सकता है अन्य का नहीं। जब तक शब्दानुशासनशास्त्र से कवि का परिचय न हो तब तक उसके प्रयुक्त शब्द अपशब्द के कुयश से दूषित रहेंगे। अभिधानकोश से पदार्थ के विनिश्चय में सहायता मिलती है। नवीन काव्य रचना के लिए कवि-परम्परा द्वारा अप्रयुक्त पदों का प्रयोग तो 'दोष' होता है गुण नहीं। कवि अभिधानकोश का उपयोग पदार्थनिर्णय के लिए करता है न कि नये-नये शब्दों के गुम्फन के लिए। छन्दोनुशासनशास्त्र से कवि वृत्तबन्ध में निश्चिन्तता प्राप्त करता है और कलाशास्त्रों के परिचय से उसमें काव्य में कलात्मक तत्वों के विनिवेश का सामर्थ्य उत्पन्न होता है। शृंगार प्रमुख रस भावों की योजना केवल प्रतिभान द्वारा नहीं अपितु

कामोपचार के शास्त्र और लोक के अनुशीलन और अवेक्षण से सम्भव है। इसी प्रकार सर्गबन्ध के रूप में नवीन काव्य-प्रबन्धों की सृष्टि के लिए दण्डनीति अथवा अर्थशास्त्र की परम्पराओं औंर मर्यादाओं से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है क्योंकि तभी काव्य शरीर के रूप में सुन्दर इतिवृत्त रचना की जा सकती है। इसी भांति अन्यान्य विद्यायें और उपविद्यायें भी कवि के प्रतिभान के लिए उर्वरक का ही काम करती हैं। लोक, विद्या और प्रकीर्ण रूप त्रिविध काव्यांग से सम्पन्न कवि की जो रचना होगी वह 'सत्काव्य' की रचना होगी। सत्काव्य प्राचीन काव्यकृतियों की अनुहृति के रूप में नहीं अपितु नवीन काव्य-कृति के रूप में निष्पन्न होता है। रघुवंश को उदाहरणरूप से देखिये। इसमें महाकवि की जन्मजन्मान्तर की वासना का स्फुरण है और इस काव्यवासना अथवा कविप्रतिभा के स्फुरण में महाकवि का विविध विद्योपार्जन तथा लोक-जीवन का अनुभव दोनों का सामर्थ्य सर्वथा स्पष्ट है।

अभिनव काव्यार्थ के दो भेद 'अयोनि' और 'अन्यच्छायायोनि'

आचार्य वामन ने त्रिविध काव्यांग में प्रतिभान के उन्मेष के लिए अवधान अथवा कवि के चित्त की एकाग्रता को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। अवधानमात्र से कवि जिस अर्थ का दर्शन करता है वह अर्थ 'अयोनि' अथवा 'अवधानमात्र-योनि' कहा जाता है और जिस काव्यार्थ का दर्शन किसी प्राचीन काव्यार्थ के आलोक में हुआ करता है वह काव्यार्थ 'अन्यच्छायायोनि' होता है। प्रतिभा-सम्पन्न कवि 'अन्यच्छायायोनिरूप' काव्यार्थ में भी नवीनता का रस संचार कर सकता है। 'अन्यच्छायायोनि' रूप काव्यार्थ के उपनिबन्धनमात्र से कोई काव्यकृति 'कविता में चोरी' का निदर्शन नहीं मानी जाती। 'अयोनि' तथा 'अन्यच्छायायोनि' रूप द्विविध काव्यार्थ के निदर्शनरूप में वामन ने दो काव्य-सूक्तियाँ उद्धृत की हैं जिनमें निम्नलिखित सूक्ति में जो अभिनव काव्यार्थ उपनिबद्ध है वह 'अयोनि' है[१]—

आश्वपेहि मम शीधुभाजनाद्
यावदग्रदशनैर्न दश्यसे।
चन्द्र ! मद्दशनमण्डलाङ्कितः
खं न यास्यसि हि रोहिणीभयात्॥

यहाँ कवि के द्वारा उपनिबद्ध काव्यार्थ केवल उसके अवधान से ही निष्पन्न हुआ है। यहाँ कोई प्रेमी और प्रेमिका, किसी हर्म्यपृष्ठ पर चाँदनी रात में

१. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति ३.२.८।

मदिरा सेवन का आनन्द लेते दिखाये गये हैं। चन्द्रमा का प्रतिविम्ब मदिरा के चषक में पड़ रहा है और प्रेम में पगी नायिका उसके चुम्बन की उत्सुकता दिखाकर अपनी ओर अपने प्रेमी को आकृष्ट कर रही है। एक ओर वह चन्द्रविम्ब को उपालम्भ देने की मुद्रा में है और दूसरी ओर अपने प्रेमी को अपने वश में करने की उतावली में। यह सब काव्यार्थ कामोपचाररूप काव्यार्थ है और सहृदय-पाठक के हृदय में शृंगाररस का निषेक करने में पूर्णतया समर्थ है। यहाँ कवि का लोकजीवन का आन्तरिक अनुभव, उसका प्रतिभान और उसकी मनः-समाधि तीनों की सम्मिलित कारणता है और इसकी महिमा से एक अभिनव अथवा मौलिक काव्यसूक्ति की रूपरेखा प्रकाश में आ रही है।

यह सूक्ति तो एक निदर्शनमात्र है। आचार्य वामन की धारणाओं के आधार पर महाकवि कालिदास के 'रघुवंश' रूप काव्यार्थ में भी हम 'अयोनि' रूप काव्यार्थ का ही दर्शन कर सकते हैं। रघुवंश का काव्यार्थ न तो वाल्मीकि रामायण का काव्यार्थ है और न विष्णुपुराण आदि पुराणों के काव्यार्थ की छाया है। संस्कृत काव्यसाहित्य का ऐतिह्य ही प्रमाणित करता है कि रघुवंश का पार्यन्तिक काव्यार्थ और उसके आपातिक काव्यार्थ दोनों महाकवि की प्रतिभा से अनुरंजित हैं, एक शब्द में मौलिक हैं।

'अन्यच्छायायोनि' के निदर्शन में वामन ने निम्नलिखित सूक्ति उपन्यस्त की है[1]—

मा भैः शशांक मम शीधुनि नास्ति राहुः
खे रोहिणी वसति कातर किं बिभेषि।
प्रायो विदग्धवनितानवसंगमेषु
पुंसां मनः प्रचलतीति किमत्र चित्रम्॥

यह सूक्ति 'अन्यच्छायायोनि' इसलिए है क्योंकि इसकी रचना 'आश्वपेहि मम शीधुभाजनात्' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति की प्रेरणा से हुई है किन्तु तब भी यह सूक्ति अनुकरण नकल नहीं अपितु एक मौलिक कृति के चमत्कार से पूर्ण है। इस सूक्ति का कवि 'आश्वपेहि मम शीधुभाजनात्' आदि सूक्ति से, अर्थ घटना के रूप में, निम्नलिखित अर्थों की छाया का ग्रहण करता है।

१. प्रेमी और प्रेमिका का चन्द्रिका विहार।

२. प्रेमी और प्रेमिका का मदिरोत्सव।

३. मदिराचषक में चन्द्रबिम्ब का प्रतिबिम्बन।

४. प्रेमी और प्रेमिका का परस्पर आकर्षण।

---

१. वही ३.२.२८।

किन्तु ये अर्थ इस सूक्ति में घटित होकर पूर्व सूक्ति की अपेक्षा एक भिन्न अर्थ का ही शरीर संस्थान बनाते हैं जो कि अनुहरण में भी एक नवीन अथवा मौलिक काव्यार्थ के रूप में प्रतीत होता है। इस सूक्ति का काव्यार्थ भी शृंगार रस ही है किन्तु पूर्व सूक्ति के शृंगार से कुछ विलक्षणता लिए हुए है। यहाँ नायक वक्ता है और नायिका को अपने प्रेम रस की ओर आकृष्ट करने के लिए, चन्द्रमा को सम्बोधित करते हुए कह रहा है! 'हे चन्द्र! इस मदिराचषक में राहु नहीं रहता जो तुम यहाँ आते हुए कांप रहे हो। तुम्हारी प्रेयसी रोहिणी तुम्हारे आकाश हर्म्य में है, फिर डरते क्यों हो यहां पहुँचने में। तुम भी आकर देख लो मेरी प्रेयसी कितनी सुन्दर है और हम दोनों जीवन का कैसा आनन्द अनुभव कर रहे हैं।'

यह सूक्ति पूर्वोक्त सूक्ति के पद-पदार्थ के अनुकरण में नहीं रची गई है अपितु उसके रसभाव-रहस्य में समाहित मन से, चिन्ता में निकल पड़ी है इसीलिए इसके रचयिता की यह अपनी सूक्ति है। 'अन्यच्छायायोनि' होना भी इस सूक्ति का एक सौन्दर्य ही है।

इस निदर्शन के आधार पर महाकवि कुमारदास का जानकीहरण 'रघुवंशच्छायायोनि' के रूप में देखा जा सकता है। 'रघुवंशच्छायायोनि' होने से 'जानकीहरण' में मौलिकता की मात्रा में कोई कमी नहीं आती। कवि में प्रतिभान हो, अवधान हो और काव्य-बन्ध के प्रति अभियोग हो तो उसकी रचना नवनिर्माण अथवा रम्यनिर्माण का ही निदर्शन हुआ करती है।

अभिनव काव्यार्थ दर्शन (द्विविध अर्थ) व्यक्त और सूक्ष्म

वामन अभिनव काव्यार्थ दर्शन में कवि के प्रतिभान् को प्रेषित करनेवाले उसके मनःसमाधान की महिमा से पूर्णतया प्रभावित है। समाहित चित्त होने पर कवि जिन अर्थों का दर्शन करता है वे वामन की काव्यमीमांसा में दो प्रकार के माने गये हैं—

प्रथम—व्यक्त।

द्वितीय—सूक्ष्म।

इन द्विविध अर्थों में पूर्वोदाहृत 'अयोनि' और 'अन्यच्छायायोनि' रूप काव्यार्थ व्यक्त अर्थ की श्रेणी में समन्वित दिखाई देते हैं। वामन ने 'अयोनि' और 'अन्यच्छायायोनि' रूप द्विविध काव्यार्थ दर्शन को व्यक्त काव्यार्थ दर्शन सम्भवतः इसलिए माना है क्योंकि दोनों अर्थ-प्रकारों के निदर्शन रूप से पूर्वोद्धृत 'आश्वपेहि मम शीधुभाजनात्' तथा भा मैः शशांक मम शीधुनि' आदि सूक्तियों में जिस प्रकार का अर्थ उपनिबद्ध है उसका शरीर निर्माण बाह्यजगत के प्रत्यक्षतः दृश्यमान अथवा अनुगम्य पदार्थों द्वारा हुआ है। चन्द्र-

बिम्ब, मदिराचषक, नायकनायिका सान्निध्य आदि अर्थ 'व्यक्त' अर्थ हैं, ऐसे अर्थ हैं जिनका साक्षात्कार इन्द्रियों के सामर्थ्य में है। हमारे जो भी काव्य, महाकाव्य, समय की तरंगों की उथल-पुथल में तैरते-उतराते हम तक पहुँच पाए हैं उनके रचयिता कवियों में इस 'व्यक्त' अर्थ के दर्शन की प्रबल शक्ति दिखाई देती है। व्यक्त अर्थ के दर्शन के परिणामस्वरूप व्यक्त अर्थ का उपनिबन्धन ही वह परम कारण है जिससे हमारे प्राचीन काव्य साहित्य में हमारी सभ्यता और संस्कृति की समस्त रूप-रेखाएँ झलका करती हैं। आज का कवि, चाहे वह हिन्दी का कवि हो अथवा अन्य किसी प्रान्तीय भाषा का कवि हो, अपने मनः समाधान द्वारा भारतीय जीवन के रूप रंग का, एक शब्द में 'व्यक्त' अर्थ का दर्शन नहीं करना चाहता। उसका सारा परिश्रम पाश्चात्य काव्य-साहित्य की परम्पराओं के अनुकरण में समाप्त हो जाता है और जो भी काव्य-साहित्य बन पाता है उसकी मौलिकता संदिग्ध हो जाती है।

व्यक्त अर्थ से भिन्न अर्थ वह है जिसे वामन ने सूक्ष्म संज्ञा दी है। यह सूक्ष्म अर्थ भी दो प्रकार का है जिसका निरूपण वामन ने निम्नलिखित रूप से किया है[1]—

सूक्ष्मो भाव्यो वासनीयश्च।

सूक्ष्मो द्वेधा भवति भाव्यो, वासनीयश्च। शीघ्रनिरूपणागम्यो भाव्यः। एकाग्रताप्रकर्षगम्यो वासनीय इति।

अर्थात् 'कवि के समाहित मन में जो सूक्ष्म अर्थ अवतरित होता है उसके दो रूप होते हैं—

पहला—'भाव्य' अर्थ अथवा वह अर्थ जिसे काव्य-साहित्य के भावुक पाठक अपने अवधानमात्र से देख लेते हैं और उसके साथ अपना हृदय संवाद स्थापित कर लेते हैं।

दूसरा—'वासनीय' अर्थ जिसका साक्षात्कार सहृदयों के मनःसमाधान प्रकर्ष से ही सम्भव है और जिसके अनुभव में उनका हृदय तन्मय अथवा आनन्दमय हो जाया करता है।

'भाव्य' अर्थ के निदर्शन रूप से वामन ने निम्न काव्यसूक्ति उद्धृत की है[2]—

'अन्योन्यसंवलितमांसलदन्तकान्ति
सोल्लासमाविरलसंवलितार्धतारम्।
लीलागृहे प्रतिकलं किलकिञ्चितेषु
व्यावर्तमाननयनं मिथुनं चकास्ति॥

---

१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ३.२ १०।

२. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ३.२.१०।

यहाँ जो अर्थ उपनिबद्ध है वह सम्भोग शृंगाररूप काव्यार्थ है। इस सम्भोग शृंगाररूप काव्यार्थ की घटना में निम्नलिखित विभावादि रूप अर्थोपकरणों का हाथ काव्य रसिकों की भावना से स्पष्ट परिलक्षित होता है—

१. प्रेमीयुगल का आलम्बनविभावरूप अर्थ।

२. रतिमन्दिर (लीलागृह) का उद्दीपनविभावरूप अर्थ।

३. स्मित-विहसित, अधरास्वादन, नयन व्यावर्तन, अङ्गक्लान्ति आदि अनुभावरूप अर्थ।

४. हर्ष, औत्सुक्य, भय-आनन्द रोषादि का सम्वलन रूप संचारी अथवा व्यभिचारी भाव।

संभोग शृंगार रूप 'भाव्य' काव्यार्थ के बन्ध में कोई भी संस्कृत काव्य 'अमरुशतक' की मौलिकता का प्रतिस्पर्धी नहीं। तब भी आचार्य वामन ने 'अन्योन्यसंवलित' आदि सूक्ति को ही भाव्य काव्यार्थ के दृष्टान्त रूप में उपस्थित किया है। वामन ने ऐसा इसलिए किया है कि इस सूक्ति की रचना करनेवाले कवि ने 'अमरुशतक' की निम्नलिखित सूक्ति की भावना में अपना मनः-समाधान किया और अपने समाहित चित्त में इस सूक्ति की रूपरेखा उतारी जिसे उसने अपने निष्कम्प अथवा मधुर और उदार पद योजना में प्रकाशित किया[1]—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥

'वासनीय' अथवा भावनाप्रकर्ष द्वारा भावनीय अर्थ के उदाहरण के लिए वामन ने यह सूक्ति उद्धृत की है[2]—

अवहित्थवलितजघनं विवर्तिताभिमुखकुचतटं स्थित्वा।
अवलोकितोऽहमनया दक्षिणकरकलितहारलतम्॥

यह सूक्ति भी शृंगार रस की ही सूक्ति है किन्तु इसमें विप्रलम्भ में रति भाव का आनन्दोल्लास भरा है। यहां भावना प्रकर्ष द्वारा ही सहृदयजनों को विभावादिरूप अर्थोपकरणों का दर्शन होता है जो कि विप्रलम्भ शृंगार के अनुभव में घुल-मिल जाता है। यहां विरहिणी नायिका अपने प्रेमी के दर्शन में अपने हृदय का समस्त प्रेम अभिव्यक्त करती दिखाई गई है।

---

१. अमरुकशतक श्लोक संख्या ८२।

२. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति ३.२.९।

इस सूक्ति को भी प्ररणा प्रदान करने वाली 'अमरुकशतक' की सूक्तियां हैं जैसे कि निम्नलिखित एक सूक्ति देखिये[१]—

दीर्घा वन्दनमालिका विरचिता दृष्ट्यैव नेन्दीवरैः
पुष्पाणां प्रकरो स्मितेन रचितो नो कुन्दजात्यादिभिः ।
दत्तः स्वेदमुचा पयोधरभरेणार्घो न कुम्भाम्भसा
स्वैरेवावयवैः प्रियस्य विशतस्तन्व्या कृतं मंगलम् ॥

यहां भी कृशांगी विरहिणी का, अपने प्रेमी के आगमन में अपने हृदय का प्रकाशन अभिव्यंग्य है । किन्तु 'अवहित्थवलितजघनम्' आदि सूक्ति का रचयिता 'अमरुशतक' की उपर्युक्त सूक्ति से कुछ चुराता नहीं अपितु उसके भाव-संभार के साक्षात्कार में, विरही युगल के प्रेमभाव की कुछ नयी रेखाओं का दर्शन कर लेता है और अपने नवकाव्य-बन्ध में उसे उतार देता है ।

रीतितत्व और काव्यगत मौलिकता

आचार्य वामन की काव्य समीक्षा में 'रीति' तत्व को काव्य का आत्मतत्व माना गया है । वामन के अनुसार वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रूप त्रिविध रीतियों में त्रिविध काव्यबन्ध का अन्तरंग और बहिरंग सभी समन्वित हो जाता है । वैदर्भी रीति के बन्ध में महाकवि कालिदास ही सबसे बढ़कर माने गए हैं । वामन प्रणीत काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति की कामधेनु व्याख्या के रचयिता गोपेन्द्र त्रिपुरहरभूपाल ने इसीलिए कहा है[२]—

'वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासः प्रगल्भते ।'

अर्थात् वैदर्भी-रीति के काव्यबन्ध में कालिदास सर्वश्रेष्ठ हैं । वैदर्भी-रीति सन्दर्भ में कालिदास की यह विशेषता तब तक नहीं समझ में आ सकती जब तक कालिदास के काव्यबन्धों में मौलिकता अथवा नवीनता के तत्व का दर्शन न हो । कालिदास के वैदर्भी-रीति सन्दर्भ के अनेकों अनुकरण हुए किन्तु कालिदास के काव्य-प्रबन्धों का वैदर्भी-रीति रस कालिदास के अनुकर्ता कवियों के वैदर्भ-बन्धों के रसों से विलक्षण रूप में ही अनुभव किया जाता है । उदाहरण के लिए कालिदास के वैदर्भी-रीति सन्दर्भ का एक उदाहरण देखिये जिसे वामन ने अपने काव्यलंकार सूत्रवृत्ति में उद्धृत किया है[३]—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं श्रृंगैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।

---

१. अमरुशतक ५६ ।

२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति : कामधेनु व्याख्या १.२.११ ।

३. अभिज्ञानशाकुन्तल २.६ ।

विश्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥

इस सूक्ति के सौन्दर्य का रहस्य इसके वैदर्भबन्ध में है और इसके वैदर्भ-बन्ध के सौन्दर्य का रहस्य इसके शब्द और अर्थ की गुण सम्पत्ति में है। यही इस सूक्ति की मौलिकता अथवा नवीनता का रहस्य है। यहां कहीं कवि के भावों के आरोह में काव्यबन्ध में गाढ़ता अथवा ओजस्विता का अनुभव होता है और कहीं कवि के भावों के अवरोह में काव्यबन्ध की शिथिलता अथवा प्रसन्नता का चमत्कार दिखाई पड़ता है। चारों चरणों की मसृणता अथवा श्लिष्टता देखने योग्य है। चारों चरणों में कई एक पदों की घटना है किन्तु पाठक को ऐसा प्रतीत होता है मानो चारों चरणों के पदों के अपने-अपने स्वर एक मधुर राग को निष्पन्न करने में निरत हो। यहां काव्यबन्ध में कान्तिमत्ता अथवा 'औज्जवल्य' है जिसके अभाव में काव्य की मौलिकता ही समाप्त हो जाती है।

वामन प्रतिपादित वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली रीति के त्रिविध बन्धों में काव्यगत नवीनता अथवा मौलिकता के त्रैविध्य का भी स्वरूप अन्तर्निहित है। यदि ऐसी बात न होती तो कालिदास और बाण, कालिदास और भवभूति, कालिदास और भारवि, कालिदास और श्रीहर्ष, भारवि और माघ, किंबहुना, संस्कृत के काव्य साहित्य के इतिहास में प्रसिद्ध एक कवि और दूसरे कवि का परस्पर वैलक्षण्य निर्मूल तथा निराधार हो जाता है : किन्तु ऐसी बात नहीं। ये सभी काव्यरचनाकार अपनी-अपनी विलक्षणता, अपनी-अपनी मौलिकता को, वस्तुतः अपनी-अपनी वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीति के अपने-अपने काव्य-बन्धों में पूर्णरूप से प्रकाशित कर चुके हैं। ये त्रिविध रीतिबन्ध वस्तुतः कवि की सहज प्रतिभा अथवा मौलिकता के प्रसार के तीन राजमार्ग हैं। ये तीनों राजमार्ग एक दूसरे से भिन्न-भिन्न रूप से प्रशस्त हैं और रमणीय हैं और सहृदय सामाजिक की काव्य भावना इन तीनों राजमार्गों पर विचरण करने में तथा तीनों का आनन्द लेने में सदा प्रसन्न रहा करती है।

ध्वनिवाद की दृष्टि में काव्य में मौलिकता

ध्वनिवाद के प्रवर्त्तक आनन्दवर्द्धनाचार्य (९ वीं शताब्दी) ने अपनी ध्वनि समीक्षा के दो प्रमुख प्रयोजनों का निर्देश किया है। इनमें प्रथम प्रयोजन 'सहृदय मनः प्रीति' है और द्वितीय प्रयोजन 'सत्काव्यनिर्माण' है। सहृदयजन यदि ध्वनि का रहस्य जान जाएँ तो उनके काव्यानुभव में परिपूर्णता आती है और वे अपने काव्यानुभव की रूपरेखाओं का समीचीन विश्लेषण करने में समर्थ बन सकते हैं। इस धारणा से ही ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने प्राचीन अलंकार-शास्त्र के मनन-चिन्तन में ध्वनि का स्वरूप दर्शन किया है और इस स्वरूप की विविध विधाओं की परिकल्पना के परिश्रम में, 'सत्काव्यनिर्माण' में ध्वनि-दर्शन की उपयोगिता क्या है ? किस-किस रूप में ध्वनिरहस्य मौलिक काव्य की सृष्टि के मूल में दिखाई देता है ? इन प्रश्नों का सर्वांगीण समाधान भी ध्वनिकार का ही कार्य है।

ध्वनितत्वदर्शन में कवि प्रतिभा का आनन्त्य

ध्वनिकार के काव्यदर्शन में कवि प्रतिभा ही मौलिक काव्यनिर्माण का परम कारण है किन्तु कवि प्रतिभा के सर्वतोमुख विकास में किसी कवि का ध्वनितत्ववेदन सर्वाधिक महत्वपूर्ण सहकारी कारण है जिसके बिना कवि की कारयित्री प्रतिभा कुण्ठित रह जाती है और काव्यबन्धों के नए-नए रूप-संस्थान निष्पन्न होने से रुक जाते हैं। आनन्दवर्धनाचार्य ने स्पष्ट कहा है[1]—

"ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यंग्यस्याध्वा प्रदर्शितः।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः॥"

य एष ध्वनेर्गणीभूतव्यंग्यस्य च मार्गः प्रकाशितस्तस्य फलांतरं कविप्रतिभाऽनन्त्यम्।

अर्थात् 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यंग्य' रूप काव्यों का जो परस्पर वैचित्र्य निरूपित किया गया है उसका उद्देश्य यही है कि कविजन इस द्विविध काव्य-बन्धों की रचना में प्रवृत्त हों जिससे उनकी कवि प्रतिभा का बहुमुख विकास हो और काव्य साहित्य के संसार में नयी-नयी सृष्टियों की संभावना चरितार्थ हो।

प्रतिभा की रूपरेखा वर्ण्य पदार्थों के विषय में कविजन की नवनवोन्मेष-शालिनी बुद्धि में रहा करती है। काव्य में जो भी वर्ण्य वस्तु है वह सब आदि

---

१. ध्वन्यालोक ३.१।

कवि वाल्मीकि की प्रतिभा का ही विषय बन चुकी है। वाल्मीकि के परवर्ती जितने भी काव्यकार हैं उनकी प्रतिभा के भी विषय वे ही हैं जो वाल्मीकि की प्रतिभा के विषय रह चुके हैं। इस दृष्टि से क्या यह मान लिया जाये कि वाल्मीकि की रामायण के बाद कोई भी नवीन काव्य रचना नहीं हुई। किन्तु ऐसा मानना स्वात्मसंवेदन के सर्वथा विरुद्ध होगा। रामायण के रचयिता आदि कवि वाल्मीकि की प्रतिभा और रघुवंश आदि महाकाव्यों के निर्माता महाकवि कालिदास आदि की प्रतिभा का वैलक्षण्य स्पष्ट है। इसका कारण यह है कि प्रतिभा की जाति भले ही एक हो क्योंकि नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा ही प्रतिभा कही जाती है किन्तु उसके प्रसरण के मार्ग कविभेद से भिन्न-भिन्न होते हैं। वाल्मीकि की प्रतिभा का प्रसरणमार्ग यदि करुण रस की अभिव्यंजना में है तो कालिदास की प्रतिभा का प्रसरणमार्ग रसराज शृंगार की अभिव्यंजना में। भवभूति की करुण रस की अभिव्यक्ति जिस प्रकार के उक्तिवैचित्र्य का आश्रय लेकर हुई है वह वाल्मीकि की कविता से भिन्न है अभिन्न नहीं। कालिदास और भवभूति ने प्रेम के नानारूपों का जो विश्लेषण और चित्रण किया है वह परस्पर विलक्षण है एकजातीय नहीं। यह सब वैचित्र्य, यह सब वैलक्षण्य इसी ओर संकेत करता है कि व्यंग्य की प्रधानता और उसकी गुणीभूतता की अनन्तरूपता के कारण काव्य वर्ण्य विषयों में ही नूतनता अथवा अनन्तरूपता संक्रान्त हो जाती है और काव्य वर्ण्य अर्थों का आनन्त्य अन्ततोगत्वा कवि प्रतिभा के आनन्त्य को प्रमाणित करता है।

सभी काव्यकार 'लक्ष्यज्ञ' होते हैं, प्राचीन तथा समकालीन काव्य कृतियों के मर्मज्ञ होते हैं। पुरातन कविनिबद्ध अर्थों की भावना में ही नवीन कवि अपनी काव्यकृति की प्रेरणा पाता है। इस दृष्टि से नवीन कवि की कृति पुरातन कविनिबद्ध अर्थों के संस्पर्श से बच नहीं सकती। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि नवीन काव्यकार की रचना में नवीनता अथवा मौलिकता नहीं होती। पूर्वकवि निबद्ध अर्थ के उपनिबन्धन में भी, ध्वनि की दृष्टि से, नवीन कवि की रचना में मौलिकता अथवा नवीनता निखर उठती है।

ध्वनि वैलक्षण्य (अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि) में काव्यगत मौलिकता

ध्वनि के प्रमुख दो भेदों में 'अविवक्षितवाच्य' ध्वनि के प्रथम भेद, अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्यध्वनि को ही यदि देखें तो एक विषय पर रचे दो काव्यसन्दर्भ परस्पर मौलिक ही सिद्ध होंगे। जैसे कि निम्नोद्धृत सूक्ति देखिये जिसे आनन्दवर्धन ने प्राचीन सूक्ति के उद्धरण के साथ उद्धृत किया है और इसलिए उद्धृत

किया है कि प्राचीन सूक्ति की मौलिकता की भाँति नवीन सूक्ति की मौलिकता भी सहृदयों को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकती। प्राचीन सूक्ति यह है[1]—

'सविभ्रमस्मितोद्भेदा लोलाक्ष्यः प्रस्खलद्गिरः।
नितम्बालसगामिन्यः कामिन्यः कस्य न प्रियाः॥"

यह सूक्ति कामिनी सौन्दर्य के वर्णन में रची हुई है। इस सूक्ति में नारी के कामिनी रूप का बड़ा सुन्दर निरूपण किया गया है। इस सूक्ति के पद-विन्यास लय, ताल पर खरे निकलते हैं। इस सूक्ति के काव्य-सौन्दर्य के निरीक्षण में, इस सूक्ति के ही विषय पर रचित अन्य कवि की निम्नलिखित सूक्ति देखिये[2]—

'स्मितं किंचिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोर्मिसरसः।
गतानामारम्भः किसलयितलीलापरिमलः
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्यं मृगदृशः॥

इस सूक्ति में पूर्व सूक्ति के अर्थ का अनुगमन निःसन्दिग्ध है। किन्तु अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि की महिमा से यह सूक्ति एक अभिनव अथवा मौलिक सूक्ति की सुन्दरता में ओत-प्रोत प्रतीत होती है। इस सूक्ति की नयी सृष्टि का विश्लेषण करने में ध्वन्यालोक के व्याख्याता आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी भावयित्री प्रतिभा का बड़ा ओजस्वी प्रकाशन किया है जो कि उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है[3]—

'मुग्धमधुरविभवसरसकिसलयितपरिमलस्पर्शनान्यत्यन्ततिरस्कृतानि। तैर-नाहृतसौन्दर्यसर्वजनवाल्लभ्याक्षीणप्रसरत्वसन्तापप्रशमनतर्पकत्वसौकुमार्यसार्वका-लिकतत्संस्कारानुवृत्तित्वयत्नाभिलषणीयसंगततत्त्वानि ध्वन्यमानानि यानि, तैः स्मितादेः प्रसिद्धस्यार्थस्य स्थविरवेधोविहितधर्मव्यतिरेकेण धर्मान्तरपात्रता यावत् क्रियते, तावत्तदपूर्वमेव सम्पद्यत इति सर्वत्रेति मन्तव्यम्।'

अर्थात् 'सविभ्रमस्मितोद्भेदाः' आदि सूक्ति का निर्माता तो, बूढ़े ब्रह्मा की भाँति, अपनी रचना में, कामिनी के लोकप्रसिद्ध मन्दस्मित आदि 'अर्थों' को उनकी लोकप्रसिद्ध विशेषताओं से युक्त प्रदर्शित करने में ही अपने कवित्व को कृतार्थ मान रहा है, किन्तु 'स्मितंकिंचिन्मुग्धम्' आदि सूक्ति का कवि उन्हीं

---

१. ध्वन्यालोक ४.३ की वृत्ति।

२. ध्वन्यालोक ४.२ की वृत्ति।

३. ध्वन्यालोक लोचन ४.२ की व्याख्या।

लोकप्रसिद्ध अर्थों और उनकी लोकप्रसिद्ध विशेषताओं में एक अपूर्वता अथवा नवीनता के रस का संचार कर देता है। इस सूक्ति के रचयिता ने मुग्ध, मधुर, विभव, सरस, किसलयिता, परिमल और स्पर्शन इन सात पदों का एक विशिष्ट काव्यात्मक प्रयोग किया है। सबसे पहले मृगनयनी नायिका के 'स्मित' को 'मुग्ध' पद के विशेषण से विभूषित करने में कवि का हृदय आनन्दित प्रतीत होता है क्योंकि इस विशेषणपद के अर्थ सौन्दर्य से, कवि सहृदय काव्य पाठकों की भावना दृष्टि को, अपने वर्णन के विषय मृगनयनी सुन्दरी के सहज, स्वाभाविक सौन्दर्य की ओर, हठात् आकृष्ट कर लेता है। दूसरे विशेषण 'मधुर' पद की भी मधुरता अपूर्व है। नायिका की तरलदृष्टि की 'मधुरता' का अभिप्राय वस्तुतः उसकी सर्वप्रियता है। जिस नायिका का दृष्टिपात सबके लिए प्रियकर हो उसके सौन्दर्य की दिव्यता का क्या कहना। तीसरा काव्यात्मक पद 'विभव' है जिसका लोकप्रसिद्ध अर्थ धन सम्पत्तिरूप होता है। मृगनयनी नायिका की तरल मधुर दृष्टि में 'वैभव' के निरूपण से कवि का यह निगूढ़ उद्देश्य सिद्ध होता है कि ऐसी दृष्टि का सौन्दर्य विलास कभी क्षीण नहीं हो सकता। नायिका की वाणी को अभिनव विलास की लहरों से 'सरस' प्रतिपादित करने में कवि ने यह अभिप्राय प्रकाशित कर दिया कि जो भी ऐसी नायिका की वाणी की विशेषता का अनुभव करे उसका हृदय सन्तृप्त हो जायेगा और उसे ऐसा प्रतीत होगा मानो उसके सारे दुःख दूर हो गए। नायिका की चाल को लीला से 'पल्लवित' (किसलयित) प्रतिपादित करना किसी कवि के लिए तभी सम्भव है जबकि वह उस चाल की शाश्वत सुकुमारता की भावना के आनन्द में निमग्न (उन्मग्न) हो रहा हो। अन्ततः लीला में 'परिमल' का वर्णन तो इस सूक्ति के रचयिता को 'सौन्दर्य के कवि' को पूर्ण प्रतिष्ठा का पात्र बना देता है।

अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि में काव्यगत मौलिकता

'अविवक्षितवाच्यध्वनि' के द्वितीय भेद 'अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि' के प्रभाव से भी अन्य कवि निबद्ध अर्थों के अनुहरण में रची किसी कवि की सूक्तियों में मौलिकता की सुकुमारता उत्पन्न हो जाती है। काव्य साहित्य में अनेकानेक ऐसे प्रसंग आते हैं जिनमें कवि अपने वर्णन के लिए कोई नयी अर्थवस्तु नहीं ढूंढता अपितु किसी दूसरे कवि के द्वारा वर्णित अर्थवस्तु पर ही रचना करता है किन्तु अपनी रचना के उपकरण लोकप्रसिद्ध पदों में, उस अर्थवस्तु के स्वभाव की स्वानुभूत विशेषताओं का ऐसा आधान कर देता है जिससे उसकी रचना 'मौलिक सृष्टि' के रूप में निखर उठती है। अर्थान्तर-

संक्रमितवाच्यध्वनि' के द्वारा 'नयी बनी' निम्नलिखित सूक्ति देखिये[१]—

यः प्रथमः प्रथमः स तु,
तथाहि हतहस्तिबहलपललाशी।
श्वापदगणेषु सिंहः,
सिंहः केनाधरीक्रियते॥

यह सूक्ति निम्नोद्धृत सूक्ति के ही अर्थ के अनुहरण में रची गई है[२]—

स्वतेजःक्रीतमहिमा
केनान्येनातिशय्यते।
महद्भिरपि मातंगैः
सिंहः किमभिभूयते॥

किन्तु इस सूक्ति 'स्वतेजः क्रीतमहिमा' आदि में कवि का वर्ण्यविषय सम्बन्धी वह भाव-संरम्भ नहीं जो कि इसके अर्थ के अनुगमन में रची पूर्वोद्धृत (यः प्रथमः स तु आदि) सूक्ति में प्रतीत होता है। पूर्वोद्धृत सूक्ति में, दूसरी बार प्रयुक्त 'प्रथम' पद वही अभिप्राय नहीं रखता जो कि पहली बार प्रयुक्त 'प्रथम' पद का अभिप्राय है। द्वितीय 'प्रथम' पद में व्यञ्जना की विद्युत्धारा का संचार है जिसके कारण वह यहां वर्ण्य किसी मनस्वी महापुरुष की अप्रतिहत महत्वाकांक्षा तथा अलोकसाधारण ओजस्विता आदि की अभिव्यक्ति करने में सन्नद्ध दिखाई देता है। इसी प्रकार दूसरी बार प्रयुक्त सिंह शब्द भी केवल वनराज का ही अर्थ नहीं वहन करता अपितु अप्रतिहत शौर्य, उन्मुक्त स्वातन्त्र्य तथा विस्मय आदि विशेषताओं से विशिष्ट प्राणीविशेष के अभिप्राय के प्रकाशन में तत्पर प्रतीत होता है।

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि (असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य) की योजना से काव्य में मौलिकता

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि की योजना से, एक कवि किसी दूसरे कवि के काव्यार्थ के आधार पर रची अपनी सूक्ति में कैसे नवीनता उत्पन्न कर देता है इसका निदर्शन निम्नोद्धृत सूक्ति में देखिये[3]—

निद्राकैतविनः प्रियस्य वदने विन्यस्य वक्त्रं वधू-
र्बोधत्रासनिरुद्धचुम्बनरसाप्याभोगलोलं स्थिता।
वैलक्ष्यादिसुखीभवेदिति पुनस्तस्याप्यनारम्भिणः
साकांक्षप्रतिपत्तिनाम हृदयं यातं तु पारं रतेः॥

---

१. ध्वन्यालोक ४.२ की वृत्ति। २. वही। ३. वही।

यह सूक्ति 'अमरुकशतक' की निम्नलिखित सूक्ति के अर्थ का आश्रय लेकर रची गई है[१] —

> शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनैः
> निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
> विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
> लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

वैसे तो दोनों सूक्तियां रसराजश्रृंगार की अभिव्यञ्जना में कृतार्थ होती हैं किन्तु अमरुकशतक का श्रृंगार नायक और नायिका की पारस्परिक रति की जिस विशेष परिस्थिति में अभिव्यक्त हो रहा है उसकी अपेक्षा 'निद्राकैतविनः' आदि सूक्ति के श्रृंगार की परिस्थिति विलक्षण है। इस सूक्ति के कवि ने प्रेमी और प्रेमिका की प्रेमार्द्र चित्तवृत्ति की एकरसता की भावना की है जिसमें रति का परितोष उभयगतरूप से पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है क्योंकि यहां परस्पर प्रणयकामना के प्रसार और निरोध की परम्परा दोनों के हृदय में समानरूप से निरन्तर प्रवाहित दिखाई गई है। यह अभिप्राय 'अमरुकशतक' की श्रृंगार-सूक्ति में नहीं। अमरुकशतक की सूक्ति में नायिका और नायक की परस्पर प्रणय-कामना की चरितार्थता का चित्रण है। दोनों में सम्भोग श्रृंगार की अभिव्यञ्जना होने पर भी एक सूक्ति का श्रृंगार दूसरी सूक्ति के श्रृंगार से नया प्रतीत हो रहा है।

रसभाव की योजना और काव्यमार्ग का आनन्त्य

रसभाव की योजना 'अनुकरण' से सम्भव नहीं। यह तो कवि की मौलिक प्रतिभा से ही सम्भव है। सहस्रों प्राचीन कवि अपने अपने अपने काव्य प्रबन्ध में रसभाव की योजना कर चुके हैं और सहस्रों नए कवि अपने अपने काव्य प्रबन्धों में रसभाव की योजना करते आ रहे हैं किन्तु तब भी यह नहीं कहा जा सकता कि रस-भाव-योजना की रूप-रेखाओं में नवीनता की समाप्ति हो चुकी है। रसभाव तो अपने अपने विभावादि के आनन्त्य से स्वयं अनन्तरूप के हैं। इनमें मौलिकता के प्रदर्शन के प्रकारों की इयत्ता का निर्धारण नहीं हो सकता। वस्तुतः लोकस्रष्टा ब्रह्मा की शक्ति को सीमित और काव्यस्रष्टा की शक्ति को असीम मानने का यही रहस्य है कि लोक के पदार्थों का वैचित्र्य परिगणित हो सकता है किन्तु काव्यजगत के पदार्थों का वैचित्र्य असंख्येय है। ब्रह्मा की सृष्टि कारण सामग्री की परतन्त्रता में ही सम्भव है किन्तु कवि अपनी सृष्टि में परम स्वतन्त्र है। कवि तो अचेतन पदार्थों में भी चेतन पदार्थों के स्वरूप

---

१. अमरुकशतक श्लोक संख्या ८२।

और स्वभाव की भावना कर सकता है किन्तु प्रजापति ब्रह्मा के लिए चेतन और अचेतन का भेद सनातन सत्य के रूप में रह जाता है। आनन्दवर्धनाचार्य ने रस-योजना में काव्यमार्ग की अनन्तरूपता का निम्नलिखित कारिका में बड़ा सुन्दर विवेचन किया है।[१]

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥

अर्थात् 'लोक में प्रत्यक्षतः दृश्यमान अथवा प्राचीन काव्यप्रबन्धों में पूर्ववर्णित भी अर्थ, रस-योजना की विलक्षणता के कारण, उसी भांति नए नए एक दूसरे की अपेक्षा अपूर्व अथवा मौलिक रूप में प्रकाशित हुआ करते हैं जिस भांति वसन्तु ॠतु के आगमन के कारण, बन-उपवन के पुराने भी पेड़-पौधे नई नई रूपराशि में रंगे दिखाई देते हैं।

संस्कृत काव्यसाहित्य का इतिहास इस बात को प्रमाणित करता है कि एक ही रसभाव का आश्रय लेकर रचित अनेकों काव्यप्रबन्ध किस प्रकार अपनी अपनी वैयक्तिक विशेषता अथवा मौलिकता को अक्षुण्ण बनाये रखे हुए हैं। महाकवि कालिदास ने अपने 'मेघदूत' मे विप्रलम्भ शृंगार का ही प्रकाशन किया है और इसके अर्थ सर्वस्व के अनुगमन में रचित, महाकवि वेंकट नाथ (१३ वीं १४ वीं शताब्दी) के 'हंस सन्देश' में भी इस विप्रलम्भ शृंगार की ही अभिव्यञ्जना है किन्तु दोनों एक दूसरे से भिन्न भिन्न रूप के ही प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' की निम्न लिखित सूक्ति देखिये[२]—

निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम्।
मत्संभोगं कथमुपनयेत् स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
माकांक्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्॥

और इस सूक्ति के आशय पर आश्रित महाकवि वेंकटनाथ की निम्नोद्धृत सूक्ति भी देखिये[3]—

चेतोवृत्तिं शमयति बहिस्सार्वभौमे निरोधे
मय्येकस्मिन् प्रणिहितधियं मान्मथेनागमेन।
अभ्यस्यन्तीमनितरजुषो भावनायाः प्रकर्षात्।
स्वान्तेनान्तर्विलयमृदुना निर्विकल्पं समाधिम्॥

---

१. ध्वन्यालोक ४.४। २. मेघदूत उत्तर मेघ २८।
३. हंससन्देशः द्वितीय आश्वास ३२।

ये दोनों सूक्तियाँ अपनी अपनी विशेषताओं में एक दूसरे से भिन्न भिन्न ही प्रतीत होती हैं। महाकवि कालिदास ने विरहिणी यक्षपत्नी को स्वप्नावस्था में, यक्ष के प्रेम में, चित्तलय की आकांक्षा में चित्रित किया है, किन्तु श्री वैष्णव कवि वेंकटनाथ ने विरहिणी सीता को, राम के प्रेम में, असंप्रज्ञात समाधि की अवस्था में पहुँचा दिया है। दोनों कवियों के प्रेम विरह के चित्रण में उद्देश्य का भेद है। कालिदास का उद्देश्य लौकिक प्रेम की पराकाष्ठा का प्रदर्शन है और वेंकटनाथ के हृदय में अलौकिक प्रेम के प्रदर्शन की अभिलाषा है। कालिदास के काव्य की छाया का ग्रहण करके वेंकटनाथ ने एक मौलिक काव्य की ही सृष्टि की है।

आदिकाव्य रामायण की रचना के बाद, जितने भी राम-काव्य रचे गए हैं वे संस्कृत काव्यसाहित्य के इतिहास में, इसीलिए अभी भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए हुए हैं क्योंकि उनमें रचयिताओं की रस-योजना मौलिक रस योजना रही है।

रस-योजना की प्रक्रिया की गणना कहां और रस-योजना के उपकरणों के प्रयोग और उपयोग की भी कोई इयत्ता नहीं। कवियों में प्रतिभा चाहिये। प्रतिभा के बल पर कवि वर्णध्वनियों में रस का स्रोत प्रवाहित कर सकता है। एक कवि यदि एक श्लोक वाक्य में रसभाव का प्रकाशन कर सकता है। तो दूसरा कवि एक पद की महिमा से सहृदय हृदय को सरस बना सकता है। कवियों की पदसंघटनायें भी, जितने कवि हैं उतने प्रकार की हुआ करती हैं। ये चित्र विचित्र पद सघटनायें रसभाव के प्रभाव में ही, अपनी स्वतन्त्र सत्ता में प्रकाशित होती हैं ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने इसीलिए वह कहा है।[1]

'रसभावतदाभासरूपे हि व्यंग्ये तदव्यञ्जकेषु च यथानिर्दिष्टेषु वर्ण-पद-वाक्य-रचना-प्रबन्धेष्वाहितमनसः कवेः सर्वमपूर्वं काव्यं संपद्यते।

अर्थात् रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि आदि व्यंग्य काव्यार्थों और वर्ण, पद, वाक्य, रचना और प्रबन्ध आदि व्यञ्जक काव्योपकरणों में मनःसमाधान पाने वाले कवियों की रचनाओं की मौलिकता अथवा अपूर्वता का कोई सीमा-बन्ध नहीं हो सकता।

रामायण और महाभारत की रसभावयोजना को ही देखिये। रामायण के कवि ने, करुण रस का, आदि से अन्त तक निर्वाह किया है किन्तु किस प्रकार एक के बाद एक, भिन्न भिन्न रस और भिन्न भिन्न भाव की योजना भिन्न-भिन्न वृत्तवर्णन और भिन्न भिन्न चरित्र-चित्रण की पृष्ठभूमि में चलती रहती और अन्त में सब करुण रस के परिकर बन्ध के रूप में अपना अपना अस्तित्व

---

१. ध्वन्यालोक ४.५ वृत्ति।

खो देते हैं। आदि कवि का हृदय करुण रस की सृष्टि के आनन्द में समाहित है। इसीलिए इसकी अभिव्यञ्जना के साधन विविध रस, भाव, अनायास एक के बाद एक, अपनी अपनी अभिव्यक्ति करते चले जाते हैं।

महाभारत रामायण जैसा अपूर्व काव्य नहीं अपितु अपूर्व शास्त्र है किन्तु ऐसा शास्त्र है जिसे 'काव्यच्छायान्वयी' काव्यसुषमा से कमनीय कहे बिना नहीं रहा जा सकता। महाभारत की मौलिकता पर कौन सन्देह कर सकता है? महाभारत में बार-बार संग्रामों के वर्णन आते हैं, बार-बार अस्त्रों और शस्त्रों की झंकार सुनाई देती है किन्तु इन सभी वर्णनों और इन सभी झंकारों में सहृदय का हृदय, कुछ न कुछ नवीनता, कुछ न कुछ विशेषता का ही दर्शन करता है और उद्विग्न होने के बदले आनन्द में ही निमग्न हुआ करता है। भिन्न भिन्न रसों, भिन्न भिन्न भावों, भिन्न भिन्न परिस्थितियों और भिन्न भिन्न विचार शृङ्खलाओं का अन्त भी जैसा कि महाभारत के ऋषि कवि की प्रशम-वेदिनी प्रतिभा में हुआ, संसार के काव्य-साहित्य के इतिहास में सर्वथा मौलिक है, सर्वथा नवीन है।

रामायण और महाभारत की अपनी-अपनी काव्यात्मकता में जो नवीनता है उसका भी परम कारण इनके रचयिता ऋषि कवियों की रस-भावना और रस-योजना की नवीनता है। रामायण का कवि प्रकृति और मानव के जीवन में 'करुण' रस के स्रोत की खोज में आनन्दमग्न हैं और महाभारत का कवि, प्रकृति और मानव के जीवन में शान्त रस के स्रोत की प्राप्ति के आनन्द में मग्न है। दोनों अपने-अपने कवित्व को पूर्णरूप से चरितार्थ कर देते हैं किन्तु दोनों के कवित्व में कितना भेद है? कौन कह सकता है कि महाभारत का कवित्व परिशुद्ध नहीं अपितु रामायण के कवित्व का उच्छिष्ट है।

रामायण के कवि ने धर्मरूप पुरुषार्थ का प्रकाशन किया है और यह प्रकाशन वाच्यरूप से नहीं अपितु व्यंग्यरूप से ही किया है जो कि आदि काव्य का 'कान्तासंमित' सरस अथवा अभिनव उपदेश है। रामायण में पूर्ववर्ती धर्मादि शास्त्रों का निःष्यन्द जिस काव्यात्मक प्रक्रिया से निकला है वह भी कवि की रस-योजना का ही एक रहस्य है। महाभारत का सरसोपदेश रामायण के सरसोपदेश से विलक्षण है। महाभारत में 'शान्त' रस का सार-भूत अर्थ वाच्य नहीं अपितु एक मात्र व्यंग्य है। महाभारत में अन्य रसों की योजना इस 'शान्त' रस को ही प्रवाहित करने में कृतार्थ होती है। रामायण और महाभारत की इन विशेषताओं के विश्लेषण में, आनन्दवर्धनाचार्य, ने इसीलिए निम्नलिखित सिद्धान्त स्थापित किया है[1]—

---

१. ध्वन्यालोक ४.५।

अंगिभूतरसाद्याश्रयेण काव्ये क्रियमाणे नवार्थलाभो भवति बन्धच्छाया च महती सम्पद्यते।

अर्थात् किसी एक रस अथवा किसी एक पुरुषार्थ के लक्ष्य पर मनः-समाधान करने से कवि को नए-नए काव्यार्थों की उपलब्धियाँ होती हैं और उसके काव्य-बन्ध में नई-नई विशेषताएँ तथा रचना-सौन्दर्य की नई-नई रूप-रेखायें उत्पन्न होती जाती हैं।

गुणीभूतव्यंग्य की योजना में काव्यबन्धों की नवीनता

वस्तु, अलंकार और रस रूप गुणीभूतव्यंग्य का उपनिबन्धन भी काव्य-बन्धों में नवीनता के संचार का एक कारण है। कवि जिन-जिन पदार्थों का का वर्णन गुणीभूतव्यंग्य की प्रक्रिया से करता है उनमें कुछ अपूर्वता ही होती है, उदाहरण के लिए ध्वन्यालोकलोचन के रचयिता आचार्य अभिनवगुप्त की निम्नलिखित प्राकृतसूक्ति देखिये[1]—

भअविहलरक्खणेक्कमल्लसरणागआणअत्थाण।
खणमत्तं विण दिण्णा विस्सामकहेत्ति जुत्तमिणम्॥
(भयविह्वलरक्षणैक-मल्लशरणागतानामर्थानाम्।
क्षणमात्रमपि न दत्ता विश्रामकथेति युक्तमिदम्॥)

यह सूक्ति निम्नोद्धृत पुरानी प्राकृत गाथा के अनुहरण में रचित है[2]।

चाइअणकरपरम्पर संचारणखेअनिस्सहसरीरा।
अत्था किवणघरंत्था स्वत्थावत्था स्ववंतीव॥
(त्यागिजनकरपरम्परा-संचारणखेदनिःसहशरीरा।
अर्थाः कृपणगृहस्थाः स्वस्थावस्थाः स्वपन्तीव॥)

ऊपर उद्धृत पुरानी प्राकृत गाथा का अभिप्राय यह है—

दानशील महापुरुषों के धनवैभव याचकों के हाथों हाथ वितरित होते रहने के कारण जिन कष्टों का अनुभव करते हैं उनसे बचने के लिए वे मानो कृपणों के घरों में आ बसते हैं जहां उन्हें सुख शान्ति की नींद मिलती है।

यहां कवि की 'उत्प्रेक्षा' का चमत्कार स्पष्ट दिखाई देता है किन्तु इस सूक्ति की छायाग्राहिणी अभिनवगुप्तपादाचार्य की सूक्ति में गुणीभूतव्यंग्य की शोभा दिखाई दे रही है जिसके कारण उनकी सूक्ति में एक नवीनता आ गई है। अभिनवगुप्तपादाचार्य की सूक्ति में किसी दानपरायण व्यक्ति की

---

१. ध्वन्यालोकलोचन ४.५।

२. ध्वन्यालोकलोचन ४.५।

उदारहृदयता का अर्थ अभिव्यंग्य रूप से प्रतीत हो रहा है और इस अभिव्यंग्य अर्थ से यहां का वाच्यार्थ ओतप्रोत होकर एक नए रूप में झलकता दिखाई देता है।

अलंकाररूप अभिव्यंग्य अर्थ के द्वारा नए रूप में रमणीय निम्नलिखित काव्यसूक्ति देखिये जो अभिनवगुप्त की ही रचना है[1]—

बसन्तमत्तालिपरम्परोपमाः
कचास्तवासन् किल रागवृद्धये।
श्मशानभूभागपरागभासुराः
कथं तदेतेन मनाग् विरक्तये॥

अर्थात् 'यौवन की अवस्था में जब तुम्हारे केशपाश वसन्त के उन्माद में उन्मत्त भ्रमरमाला की भांति काले काले थे तब तो तुम्हारे हृदय में राग की वृद्धि का रहस्य समझ में आ सकता था किन्तु अब जबकि जरावस्था के कारण वे ही केशपाश श्मशान भूमि की भस्म राशि की भांति उजले उजले हो चुके हैं तब भी तुम्हारे हृदय में विरक्ति की थोड़ी सी भी मात्रा, पता नहीं चलता, क्यों नहीं दिखाई देती।,

यह काव्यसूक्ति निम्नोद्धृत प्राचीन श्लोक के अर्थानुगमन में रची गई है[2]—

क्षुत्तृष्णाकाममात्सर्यं मरणाच्च महद्भयम्।
पंचैतानि विवर्धन्ते वार्धके विदुषामपि॥

यह उपर्युक्त श्लोक शास्त्र वाक्य के समान प्रतीत होता है किन्तु इसकी छाया में रचित अभिनवगुप्तपादाचार्य की 'वसन्त मत्तालिपरम्परोपमाः आदि सूक्ति में काव्य की सुन्दरता लिपटी हुई है। इसका कारण यह है कि यहां 'विभावना' और 'आक्षेप दोनों अलंकार अपने अपने सौन्दर्य में अभिव्यक्त हो रहे हैं और अन्त में यहां के वाच्यार्थ की सुन्दरता की अभिवृद्धि के निमित्त होकर चरितार्थ हो रहे हैं। यहां विभावना की अभिव्यक्ति इस रूप में है कि 'काम की वृद्धि के कारणों के अभाव में भी कामवासना की वृद्धि, 'प्रतीत होती है और आक्षेप की अभिव्यञ्जना का रूप यह है कि 'काम की महिमा का वर्णन असम्भव है'।

इसी प्रकार गुणीभूत रसभाव की महिमा से उपस्कृत अभिनवगुप्तपादाचार्य की ही निम्नलिखित सूक्ति देखिये[3]।

---

१. ध्वन्यालोकलोचन ४.५।

२. ध्वन्यालोकलोचन ४.५।

३. ध्वन्यालोकलोचन ४.५।

जरा नेयं मूर्ध्नि ध्रुवमयमसौ कालभुजगः
क्रुधान्धः फूत्कारैः स्फुटगरलफेनान् प्रकिरति ।
तदेनं संपश्यत्यथ च सुखितम्मन्यहृदयः
शिवोपायन्नेच्छन् बत बत सुधीरः खलु जनः॥

इस सूक्ति में निर्वेद अथवा प्रशम के महाभाव की अभिव्यक्ति है किन्तु यह अभिव्यक्ति कवि के उपनिबद्ध वाच्य की ही शोभा बढ़ाने में निरत है। यह सूक्ति भी पूर्वोद्धृत 'क्षुत्तृष्णाकाममात्सर्यम्' आदि श्लोक की छाया के ग्रहण मे निर्मित है किन्तु कोई भी सहृदय काव्यपाठक यह नहीं कह सकता कि इस सूक्ति मे नवीनता अथवा अपूर्वता नहीं। वस्तुतः 'क्षुत्तृष्णाकाममात्सर्यम् आदि श्लोक के समक्ष यह सूक्ति सर्वथा एक मौलिक कृति प्रतीत होती है।

महाकवि भर्तृहरि के 'शतकत्रय' की मौलिकता स संस्कृत काव्य के पाठक पूर्णतया परिचित हैं और उन्हें यह भी पता है कि सोलहवीं शताब्दी के पंडितराज जगन्नाथ ने इसके प्रभाव में 'भामिनीविलास' की रचना की कतिपय सूक्तियां रची हैं। किन्तु पंडितराज जगन्नाथ की सूक्तियाँ भर्तृहरि के 'शतकत्रय' की सूक्तियों के रहते हुए भी अपना पृथक् अस्तित्व रखने में समर्थ हैं। इसका कारण पण्डितराज जगन्नाथ की अपनी प्रतिभा हैं जो पुरानी सूक्तियों की छायाग्राहिता में भी अपनी मौलिकता, किसी न किसी दृष्टि से अवश्य प्रकट कर देती है। उदाहरण के लिए भर्तृहरि की निम्नोद्धृत सूक्ति देखिये[1]।

उरसि निपतितानां स्रस्तधम्मिल्लकानां-
मुकुलितनयनानां किंचिदुन्मीलितानाम्।
सुरतजनितखेदस्विन्नगंडस्थलीना-
मधरमधु वधूनां भाग्यवन्तः पिबन्ति ॥

यह सूक्ति प्रगल्भानायिका के स्वभाव वर्णन के कारण बड़ी सुन्दर लग रही है। यहां स्वभावोक्ति अलंकार शृंगार की अभिव्यञ्जना का एक माध्यम बन रहा है। इस सूक्ति की छाया के अनुसरण में रची पंडितराज जगन्नाथ की निम्नलिखित सूक्ति भी देखिये[2]।

स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालिकपोलपालि-
दोलायितश्रवणकुण्डलमण्डनीया ।

---

१. भर्तृहरिशतक शृंगारशतक २५ ।
२. भामिनीविलास शृंगारोल्लास ३ ।

आनन्दमंकुरयति स्मरणेन कापि
रम्या दशा मनसि मे मदिरेक्षणायाः ॥

पंडितराज जगन्नाथ की यह सूक्ति भर्तृहरि की सूक्ति की नकल नहीं अपितु एक नई कृति के रूप में ही दिखाई देती है। कारण यह है कि पंडितराज जगन्नाथ की सूक्ति में जो विप्रलम्भ श्रृंगार परिपुष्ट हो रहा है वह अन्ततोगत्वा यहाँ के वाच्य मदिरेक्षणा नायिका की एक सम्मोहक स्वाभाविक दशा का ही सौन्दर्य वर्धन करने में चरितार्थ दिखाई देता है।

एक प्रसिद्ध उक्ति है 'नवनवगुणरागी प्रायशोजीवलोकः' अर्थात् लोग प्रायः नवीनता के ही प्रेमी होते हैं। यह उक्ति लोक-जीवन की भाँति काव्य-जीवन में सर्वथा लागू होती है। भर्तृहरि के श्रृंगारशतक के प्रति सहृदय पाठकों का अनुराग प्रसिद्ध ही है किन्तु पंडितराज जगन्नाथ के भामिनीविलास के प्रति भी संस्कृत के काव्यरसिक कम रसिक नहीं। जिस समय भर्तृहरि ने 'श्रृंगार-शतक' की रचना की उस समय वही नवीन कृति मानी गई। पंडितराज जगन्नाथ ने कई शताब्दियों बाद 'भामिनी विलास' लिखा किन्तु अपने समय में यह कृति भी अपनी अपूर्वता के ही कारण संस्कृत काव्य पाठकों का आकर्षण बनी। 'पुराण' और 'नवीन' में केवल भूत और वर्तमान काल ही वस्तुतः भेद उत्पन्न करता है। क्योंकि 'पुरा' अथवा 'अतीत युग' में जो वस्तु 'नव' अथवा नयी होती है वही है वही बाद में 'पुराण' पुरानी कही जाती है। वस्तुतः कविजन पुरानी काव्यकृतियों का बड़े मनोयोग से अनुशीलन किया करते हैं। क्योंकि पुरानी काव्यकृतियों के अनुशीलन में ही उन्हें अपनी कृति को 'मौलिक' अथवा 'नवीन' कृति के रूप में प्रस्तुत करने की दिशाओं का दर्शन हुआ करता है। आनन्दवर्धनाचार्य की यह उक्ति यहां स्मरणीय है क्योंकि इसमें काव्यजगत में 'प्राचीन' और 'नवीन' के स्वतन्त्र अस्तित्व का बड़े सुन्दर ढंग से समर्थन है[1]—

ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यंग्यस्य च समाश्रयात्
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः ॥

सत्स्वपि पुरातनकविप्रबन्धेषु यदि स्यात्प्रतिभागुणः, तस्मिंस्त्वसति न किंचिदेव कवेर्वस्त्वस्ति। बन्धच्छायाप्यर्थद्वयानुरूपशब्दसन्निवेशोऽर्थप्रतिभानाभावे कथमुपपद्यते। अनपेक्षितार्थविशेषाक्षररचनैव बन्धच्छायेति नेदं नेदीयः सहृदयानाम्। एवं हि (सत्यार्थान)पेक्षचतुरमधुरवचनरचनायामपि काव्यव्यपदेशः प्रवर्तेत। शब्दार्थयोः साहित्येन काव्यत्वे कथं तथाविधे विषये काव्यव्यवस्थेति

१. ध्वन्यालोक ४.६ कारिका और वृत्ति ।

चेत्-परोपनिबद्धार्थविरचने यथा तत्काव्य-व्यवहारस्तथा तथाविधानां काव्य-सन्दर्भाणाम् ।

इसका तात्पर्य यह है कि प्राचीन काव्यकृतियों के रहते हुए भी नवीन कवि, यदि वह प्रतिभासम्पन्न है तो, अपनी कृति को मौलिक कृति का अस्तित्व प्रदान कर सकता है । प्रतिभा के न होने पर तो कुछ भी नहीं हो सकता । तब तो प्राचीन कवियों के अनुशीलन में नवीन कवि को नयी नयी प्रेरणा के बदले, स्थान स्थान पर निराशा ही घेर लेगी । अपने प्रतिभा गुण के समीचीन प्रकाशन और प्रसारण के लिए नवीन कवि का यह कर्तव्य है कि वह व्यंग्य की प्रधानता और अप्रधानता की दशाओं की विचित्रताओं का पूर्ण विवेक प्राप्त करे । ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्यरूप काव्यार्थों के विवेक से प्रतिभा गुण के पूर्ण विकास में नवीन कवि के काव्य बन्ध नई नई विशेषताएँ प्रदर्शित कर सकते ह । मौलिकता समय की सीमा में नहीं रहा करती और न नवीनता की ही कोई कालकृत अवधि है ।

व्यंग्यार्थविवेकपूर्वक वाच्यार्थ के उपनिबन्ध में नई काव्यसृष्टि की सम्भावनायें

काव्य में व्यंग्य रूप अर्थ की अनन्तरूपता में वाच्यरूप अर्थ की अनन्त-रूपता का हाथ रहा करता है । जितने कवि हैं उतने प्रकार के उनके प्रतिपाद्य वाच्यरूप अर्थ हैं और जितने प्रकार के वाच्यरूप अर्थ हो सकते हैं उतने ही प्रकार के उनके व्यंग्यरूप अर्थ भी हुआ करते हैं । एक भी चेतन अथवा अचेतनरूप वाच्य पदार्थ, वस्तुतः कवि की प्रतिभा दृष्टि के सामने अनन्तरूप का दिखाई देता है । कोई भी एक वाच्यपदार्थ अपनी परिस्थितियों के परिवर्तन में एक रूप का नहीं रह सकता । स्थान के परिवर्तन में वही पदार्थ भिन्न भिन्न रूपों में अवभासित हुआ करता है । समय का परिवर्तन सभी पदार्थों में परिवर्तन उत्पन्न किया करता है । पदार्थों का अपना-अपना स्वरूप भी एक रूप नहीं रहा करता अपितु निरन्तर परिवर्तनशीलता से प्रभावित हुआ करता है । कविजन में प्रतिभा चाहिये । प्रतिभा होने पर, एक भी किसी चेतन अथवा अचेतन वस्तु की अनेकों नयी नयी स्वभावोक्तियाँ बन सकती हैं । उपर्युक्त दृष्टिकोण से एक भी वस्तु के दर्शन और वर्णन में अनेकों नई नई, परस्पर मौलिक, काव्यसूक्तियां निकल सकती हैं और निकल भी चुकी हैं । आनन्दवर्धनाचार्य ने अवस्थाभेद से एक ही अचेतन वस्तु के वर्णन में वैविध्य अथवा वैलक्षण्य के निदर्शनरूप से, महाकवि कालिदास के 'हिमालय वर्णन' को प्रस्तुत किया है । हिमालय वही है किन्तु रघुवंश में इसका जो रूप है वह

कुछ और है तथा कुमारसम्भव में इसका जो रूप है वह कुछ और ही है। रघुवंश में वर्णित 'हिमालय' एक नगराज की अवस्था में विराजमान है किन्तु कुमारसम्भव में यही हिमालय देवतात्मा की दिव्यावस्था में पहुँचकर एक नवीन स्वर्गीय अस्तित्व धारण कर लेता है। रघुवंश में वर्णित हिमालय का स्वरूप देखिये[१]—

ततो गौरीगुरुं शैलमारुरोहाश्वसाधनः
वर्धयन्निव तत्कूटानुद्धूतैर्धातुरेणुभिः ॥
शशंस तुल्यसत्त्वानां सैन्यघोषेऽप्यसम्भ्रमम् ।
गुहाशयानां सिंहानां परिवृत्यावलोकितम् ॥
भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः
गंगाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे ॥
विशश्रमुर्नमेरूणां छायास्वध्यास्य सैनिकाः ।
दृषदो वासितोत्संगा निषण्णमृगनाभिभिः ॥
सरलासक्तमातंगग्रैवेयस्फुरितत्विषः ।
आसन्नोषधयो नेतुर्नक्तमस्नेहदीपिकाः ॥
तस्योत्सृष्टनिवासेषु कुण्ठरज्जुक्षतत्वचः ।
गजवर्ष्म किरातेभ्यः शशंसुर्देवदारवः ॥
तत्र जन्यं रघोर्घोरं पर्वतीयैर्गणैरभूत् ।
नाराचक्षेपणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानलम् ॥
शरैरुत्सवसंकेतान् स कृत्वा विरतोत्सवान् ।
जयोदाहरणं बाह्वोर्गापयामास किन्नरान् ॥
परस्परेण विज्ञातस्तेषूपायनपाणिषु ।
राज्ञा हिमवतः सारो राज्ञः सारो हिमाद्रिणा ॥

इन सूक्तियों का हिमालय, भारत ही नहीं अपितु विश्व के पर्वत-संघों का अधिपति नगराज हिमालय है जिसे महाकवि ने सम्राट रघु की विजय-यात्रा के प्रसंग में अपने ओजस्वी वर्णन का विषय बनाया है। इन सूक्तियों में हिमालय की पार्थिव सत्ता और पार्थिव ऐश्वर्य का ऐसा उल्लेख है जिसके अनुकरण का साहस संस्कृत के परवर्ती कवियों में किसी ने नहीं किया। हिमालय के आरोहण और अवरोहण के भागों की धूमिल कंकरीली भूमियां, हिमालय के निवासी सिंह, व्याघ्रों की मनुष्यों पर निर्भय, निश्चिन्त दृष्टिपातों

---

१. रघुवंश ४.७१–७९ ।

की परम्परायें, हिमालय की गंगा की मर्मर ध्वनियां, हिमालय के मार्गों पर दोनों पार्श्वों पर जहां तहां खड़े देवदार के वृक्षों की पंक्तियां—एक शब्द में हिमालय का समस्त पार्थिव वैभव इन सूक्तियों में रह रह कर झाँक रहा है। महाकवि की यह हिमालय कविता जो उनके 'रघुवंश काव्य'–रघु दिग्विजयवर्णन काव्य–के सौन्दर्य की अभिवृद्धि में चरितार्थ हो रही है, एक परम मौलिक रचना है।

किन्तु महाकवि कालिदास की ही हिमालय कविता 'जो कि कुमारसम्भव' महाकाव्य की मुखश्री के रूप में दिखलाई देती है, 'रघुवंश' में अन्तर्भूत 'हिमालय कविता' से कम मौलिक और सुन्दर नहीं। कुमारसम्भव में वर्णित हिमालय का एक दिव्य, भव्य अस्तित्व है[1]—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य
स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥
यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं
मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च
पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम्॥
अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य
हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः॥
यश्चाऽप्सरोविभ्रमण्डनानां
सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्त्ति।
बलाहकच्छेदविभक्तरागा-
मकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम्॥
आमेखलं संचरतां घनानां
छायामधः सानुगतां निषेव्य।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते
श्रृंगाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः॥

---

१. कुमारसम्भव १.१,१७।

पदं तुषारस्रुतिधौतरक्तं
यस्मिन्नदृष्ट्वाऽपि हतद्विपानाम्।
विदन्ति मार्गं नखरन्ध्रमुक्तैः
मुक्ताफलैः केसरिणां किराताः॥

न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र
भूर्जत्वचः कुञ्जरविन्दुशोणाः।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणा-
मंगलेखक्रिययोपयोगम्॥

यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान्
दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां
तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम्॥

कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं
विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम्।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः
सानूनि गन्धः सुरभीकरोति॥

वनेचराणां वनितासखानां
दरीगृहोत्संगनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्या-
मतैलपूराः सुरतप्रदीपाः॥

उद्वेजयत्यंगुलिपार्ष्णिभागान्
मार्गे शिलीभूतहिमेऽपि यत्र।
न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्त्ता
भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः॥

दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु
लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम्।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने
ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव॥

लांगूलविक्षेपविसर्पिशोभै-
रितस्ततश्चन्द्रमरीचिगौरैः।

यस्याऽर्थयुक्तं गिरिराजशब्दं
कुर्वन्ति बालव्यजनैश्चमर्यः ॥
यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां
यदृच्छया किंपुरुषांगनानाम् ।
दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बा-
स्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति ॥

भगीरथीनिर्झरशीकराणां
वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः ।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातै-
रासेव्यते भिन्नशिखडीबर्हः ॥
सप्तर्षिहस्तावचितावशेषा-
ण्यधो विवस्वान् परिवर्तमानः ।
पद्मानि यस्याऽग्रसरोरुहाणि
प्रबोधयत्यूर्ध्वमुखैर्मयूखैः ॥
यज्ञांगयोनित्वमवेक्ष्य यस्य
सारं धरित्रीधरणक्षमं च ।
प्रजापतिः कल्पितयज्ञभागं
शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत् ॥

हिमालय पर रचित 'कुमारसम्भव' की इस श्लोक सप्तदशी में हिमालय का जो स्वरूप निरूपित है वह रघुवंश के पूर्वोद्धृत श्लोकों से गतार्थ नहीं अपितु एक नया ही स्वरूप है। यहां हिमालय के पार्थिव अस्तित्व को, कवि की कल्पना ने एक अपार्थिव ऐश्वर्य में परिवर्त्तित कर दिया है। यहाँ हिमालय मनुष्य की लीलाभूमि नहीं अपितु देवता की लीलाभूमि के रूप में चित्रित है। रघुवंश में वर्णित हिमालय की वही उत्तुंगता, वही हिमसम्पत्ति, वही धातुमत्ता वहीवन शोभा, वही श्वापद विभूति. वही भूर्जवृक्ष और देवदारु की पंक्तियाँ. वही भागीरथी की शीतलता, वही सौन्दर्यराशि, वस्तुतः सब कुछ, कुमारसम्भव में वर्णित होने पर, नये लगने लगते हैं।

काव्य में, अचेतन पदार्थों के अवस्थाभेद से वर्णन में, जैसे अचेतन पदार्थों का रूप नया नया निखरने लगता है वैसे ही चेतन पदार्थों की रूप सम्पत्ति भी, भिन्न भिन्न अवस्थाओं में वर्णित होने पर, भिन्न भिन्न रूप से प्रभावो-

त्पादक हो जाया करती है। किसी भी देश की काव्य सम्पत्ति की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि उसके कवियों की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा ही किया करती है। बिना इस प्रतिभा के चेतन जगत की भिन्न भिन्न अवस्थाओं के सूक्ष्म स्वभाव का विश्लेषण कैसे हो सकता है। और बिना इस विश्लेषण के इनका काव्य में चित्रण क्योंकर सम्भव है। महाकवि कालिदास के कुमारसंभव में पार्वती वर्णन के भिन्न भिन्न प्रसंग हैं। किन्तु इन भिन्न भिन्न प्रसंगों में वर्णित पार्वती की रूप रेखायें नई नई ही दिखाई देती हैं। उदाहरण के लिए 'बाल्य-काल' में पार्वती का स्वरूप वर्णन देखिये[1]।

दिने दिने सा परिवर्धमाना
लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा।
पुपोष लावण्यमयान् विशेषान्
ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि॥
मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः
सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रिकैश्च।
रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां
क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये॥

यही पार्वती यौवन के नवागमन में कुछ दूसरे ही रूप में उपस्थित होती है[2]।

असम्भृतं मण्डनमंगयष्टे-
रनासवाख्यं करणं मदस्य।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं
बाल्यात्परंसाऽथ वयः प्रपेदे॥
उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं
सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवाऽरविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि
वपुर्विभक्तं नवयौवनेन॥

इसी पार्वती को 'महाकवि' ने शिव को पतिरूप में प्राप्त करने की अभि-लाषा में निरत चित्रित करते हुए एक नए ही रूप में चित्रित किया है[3]।

---

१. कुमारसंभव १.२५.२९। २. वही १.३१.३२।
३. वही ३.५३.५४।

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्धुवारवसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ॥
आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां
वासो वसाना तरुणार्करागम् ।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा
संचारिणी पल्लविनी लतेव ॥

पार्वती वर्णन की एक और विशेषता देखिये जो कि काम दहन के बाद, पार्वती के 'सती' रूप के चित्रण में स्पष्ट है[1]—

विमुच्य सा हारमहार्यनिश्चया
विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम् ।
बबन्ध बालारुणबभ्रुवल्कलं
पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति ॥
यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहै-
र्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम् ।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पंकजं
सशैवलासंगमपि प्रकाशते ॥

इन सब दृष्टान्तों का अभिलक्ष्य यही है कि जैसे एक ही कवि अपने ही काव्यप्रबन्ध में, एक ही चेतन प्राणी के अवस्थावैलक्षण्य से वर्णन में सर्वत्र नवीनता संक्रान्त कर सकता है वैसे ही भिन्न भिन्न कवि, अपने अवस्थाओं के, सूक्ष्म सुभग चित्रण में, अपनी अपनी 'मौलिक मौलिकता' का प्रकाशन कर सकते हैं ।

काव्यों की मौलिकता में स्थान भेद का महत्व

संस्कृत के कई एक ऐसे काव्य हैं जिनका प्रचार आजकल भले ही विरल हो किन्तु जिस समय ये रचे गए होंगे, उस समय, समकालीन काव्यरसिकों के, ये, अवश्य आकर्षण रहे होंगे अन्यथा उन कवियों को इन काव्यों के रचने में उत्साह कहाँ से मिलती होगी ।

यदि संस्कृत के दो कवियों को ले लीजिये जिनमें एक काश्मीर का रहा हो और दूसरा कांचीपुरी का और उनके किये जल-वर्णन को ले लीजिये, तो, देश-भेद के कारण, दोनों के जल के अनुभव और काव्यात्मक वर्णन परस्पर भिन्न भिन्न ओर परस्पर मौलिक प्रतीत होंगे । जैसे कि काँचीपुरी (आजकल

१. वही ५.८,९ ।

का कान्जीवरम्) के एक महाकवि श्री वेंकटनाथ वेदान्तदेशिक (१३ वीं–१४ वीं शताब्दी) की निम्नलिखित सूक्ति देखिये[१]—

स्रोतोवेगादथ जनपदं सौम्य सीमन्तयन्ती
प्रत्यादेशो विबुधसरितः स्यन्दते सह्यकन्या
काले काले परिणतिवशात्पर्वभेदावकीर्णैः
पुण्ड्रेक्षूणां पुलिनविशदैर्गद्गदामौक्तिकौघैः ॥

और काश्मीर के एक महाकवि श्रीवर पण्डित (१५ वीं शताब्दी) की निम्नलिखित सूक्ति देखिये[२]—

वितस्तालेदरीसिन्धुक्षिप्तिकाद्यास्तदापगाः ।
अन्योन्यस्पर्धयेवोग्रा ग्रामांस्तीरेष्वमज्जयन् ॥
सविभ्रमा धृतावर्तां वाहिन्युत्थाः सहेषिताः ।
जवादधावन्नुत्तुगास्तत्तरंगतुरंगमाः ॥
अत्युच्चपातकृत् नीचोन्नतिदं च निरंकुशम् ।
आसीदपथगं सत्यं तदा जलविजृम्भितम् ॥

दोनों की रचनाएं सरिता-जल पर ही हैं किन्तु एक में जैसे कि कान्चीपुरी के कवि की कृति में तो कावेरी की प्रसन्न जलशोभा का आंखों देखा वर्णन है और दूसरे में जैसे कि काश्मीर के कवि की सूक्ति में अपनी शाखाओं और प्रशाखाओं के मद में चूर्ण वितस्ता (आजकल की व्यासनदी) की भयंकर जल-शोभा का वर्णन है ।

ऐसी ही नवीनता चेतन प्राणी के भी, देशभेद से, वर्णन में, काव्यप्रबन्धों में यथा स्थान स्पष्ट परिलक्षित होती है । भिन्न भिन्न देशों के रहने वाले मनुष्यों के भिन्न भिन्न व्यवहारों और व्यापारों का अन्त पाना सहस्त्रों कवियों के लिए भी संभव नहीं । नारी जगत् के व्यवहारों और व्यापारों की विशेषताएं, भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न रूप की ही हैं । इन सबकी यदि कभी कोई अवधि निर्धारित हो सके तभी यह कहना सम्भव है कि चेतन जगत् के स्वभाव-वर्णन में अब कोई नवीनता अथवा मौलिकता नहीं हो सकती । किन्तु ऐसी सम्भमाना कहां चेतन अथवा अचेतन जगत् की वस्तुस्थिति के भी उपनिबन्धन में काव्यार्थों की अनन्तरूपता में कोई प्रतिरोध कहीं से नहीं उपस्थित होता ।

---

१. हंस सन्देश आश्वास १.४२ ।

२. जैनराजतरंगिणी १.८,१० डा० सत्यव्रत सिंह जी की अप्रकाशित डी० लिट् की थीसिस से उद्धृत ।

कालभेद से वस्तु स्वभाव वर्णन में काव्यार्थगत मौलिकता

चेतन अथवा अचेतन पदार्थों के स्वभाव-वर्णन में, काल-भेद के कारण भी काव्यार्थों में वैलक्षण्य की रेखायें स्पष्ट उभर आती हैं। वसन्त ऋतु के वर्णन में धरा और गगन, सर और सरिता आदि आदि पदार्थों के स्वभाव के जो काव्य-वर्णन हो सकते हैं, उनमें और शरद् ऋतु के वर्णन के प्रसंग में, इन्हीं पदार्थों के स्वभाव में, विभिन्नता अथवा अपूर्वता अवश्य उत्पन्न हो जायेगी। देश, काल आदि भेदों में काव्यवर्ण्य पदार्थों की अनन्तरूपता का संकेत यही द्धिस करता है कि काव्य-जगत् में 'वसन्त की बहार' सदा रह सकती है। आवश्यकता केवल कवि प्रतिभा की है और कवि प्रतिभा के प्रसार की दिशाओं के परिज्ञान की है।

काव्यगत मौलिकता में उक्तिवैचित्र्य का महत्व

काव्यार्थों की नवीनता अथवा काव्यों की मौलिकता में उक्ति-वैचित्र्य का पर्याप्त महत्त्व प्रतीत होता है। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाये कि जबकि कविजनों को भूत, वर्तमान अथवा भविष्य की वस्तुओं का 'योगजप्रत्यक्ष नहीं हुआ करता है और जबकि काव्य वर्ण्य पदार्थों के स्वभाव-वर्णन में, उन्हें स्वसंवेद्य अथवा परसंवेद्य उन पदार्थों के 'सामान्यमात्र' का ही सहारा लेना पड़ता है तब तो काव्यगत मौलिकता का एक मात्र कारण उक्तिवैचित्र्य ही स्वीकार करना पड़ेगा, कारण यह है कि काव्यवर्ण्य वस्तुओं के सामान्य स्वभाव का वर्णन तो पुराने कविजन ही कर चुके। नए कवियों की दृष्टि में कोई नई बात दिखाई दे देगी, ऐसी कोई सम्भावना भी नहीं। तब भी 'रघुवंश और कुमारसंभव आदि प्राचीन काव्यों के रहते 'किरातार्जुनीय' और शिशुपालवध' आदि नवीन काव्यों के प्रति लोग आकृष्ट ही होते हैं। पुराने कवियों की रचनाओं के रहते नए कवियों की कृतियों में नवीनता अथवा मौलिकता से प्रभावित होना यही सिद्ध करता है कि नयी काव्यरचनाओं की सभी बातें भले ही वही हों जो पुरानी काव्यरचनाओं की हैं किन्तु तब भी उनमें 'उक्ति-वैचित्र्य' है जो कि उनके अस्तित्व तथा उनके आकर्षण का मूल कारण है।

काव्यगत मौलिकता का कारण उक्तिवैचित्र्य के मूल में काव्य वैचित्र्य

काव्यगत मौलिकता अथवा नवीनता के पार्यान्तिक विश्लेषण में उक्ति वैचित्र्य का नहीं अपितु उक्तिवैचित्र्य के भी मूल कारण वाच्य वैचित्र्य का हाथ दिखाई देता है। यह काव्य रहस्य ध्वनिवाद के पूर्ववर्ती अलंकारशास्त्र में

अविदितप्राय था। इस काव्य-रहस्य का उद्‌भेदन ध्वनि दर्शन से ही हुआ है। उक्तिवैचित्र्य क्या है? वाच्य विशेष के प्रतिपादक काव्य वचन को ही 'उक्ति-वैचित्र्य' अथवा 'भंगीभणिति' अथवा 'विचित्र अभिधा' कहा जाता है। यदि वाच्य विशेष की प्रतिपादक काव्य रचना में कोई विचित्रता अथवा नवीनता है तो वाच्यविशेष में भी विचित्रता अथवा नवीनता अवश्य माननी पड़ेगी। 'वाच्य' और उसकी 'उक्ति' दोनों शंकर पार्वती की भाँति सदा संपृक्त सदा अर्धनारीश्वर रूप है। वाच्य वैचित्र्य अन्ततोगत्वा वस्तु स्वभाव वैचित्र्य का साधक हो जाता हैं। इसी लिए काव्य जगत में किसी भी नई सृष्टि का कारण कवि प्रतिभा को ही मानना उचित है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने इसीलिए कहा है[1]—

वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्य।
यद्येकस्यापि कस्यचित्॥
इष्यते प्रतिभार्थेषु।
तत्तदनन्त्यमक्षयम्॥

जिसके तात्पर्य निरूपण के रूप में यह कहा जा सकता है कि यदि वाल्मीकि के बाद कालिदास की काव्य कृतियों को मौलिक माना जाये, तब समय की अनन्तता में अन्य काव्य कृतियों की मौलिकता की भी अनन्तरूपता माननी ही पड़ेगी।

वाच्य वैचित्र्य का अन्त पाना सम्भव नहीं क्योंकि उसकी सामान्य और विशेष परिस्थितियों की सीमाये स्थापित नहीं हो सकती। उक्ति वैचित्र्य की भी कहीं कोई अवधि नहीं। इसलिए इन दोनों के परस्पर संयोग में काव्यगत मौलिकता की श्रीवृद्धि का होना स्वाभाविक ही है। संस्कृत के काव्य साहित्य के इतिहास में. जो भी श्रव्य अथवा दृश्य काव्य आज अपना अस्तित्व रखते हैं उनकी मौलिकता के कारणों के रूप में उनमें से प्रत्येक के उक्तिवैचित्र्य और वाच्य वैचित्र्य का पृथक पृथक विश्लेषण एक बहुत व्यापक किन्तु रोचक अध्ययन है, जिसे आकार प्राकार की वृद्धि के भय से इस निबन्ध का विषय बनाना असम्भव है।

ध्वनिदर्शन और परस्परसंबद्ध काव्यों की मौलिकता

एक ही देश में रहने वाले, एक ही सभ्यता और संस्कृति में पलने वाले तथा एक ही भाषा में काव्य रचने वाले, सभी युगों के काव्य रचयिताओं की कृतियों में, जहां तहां परस्पर संवाद अथवा सादृश्य का न होना असम्भव है।

---

१. ध्वन्यालोक ४.७ की वृत्ति।

भिन्न भिन्न देशों और भिन्न भिन्न भाषाओं की काव्य कृतियों में भी कहीं न कहीं परस्पर भाव साम्य झलक जाता है तब एक देश और एक भाषा की कृतियों में भाव साम्य का होना स्वाभाविक ही है किन्तु भाव साम्य के कारण ऐसा नहीं माना जा सकता कि एक कृति दूसरे का अनुकरण है अथवा एक यदि मौलिक है तो दूसरी उसकी नकल है। यह 'संवाद' अथवा सादृश्य जो लोक जीवन में ऐसे दो मनुष्यों में दिखाई दे सकता है जिनका व्यक्तित्व परस्पर विलक्षण है, काव्य जगत् का भी एक नियम है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने, ऐसे संवाद में, जिसे उन्होंने 'तुल्यदेहिवत्'[1] कहा है, काव्यों की परस्पर मौलिकता की कोई क्षति नहीं मानी है[2]—

आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे।
पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि ॥
वस्तु भातितरां तन्व्याः।
शशिच्छायामिवाननम् ॥

अर्थात् कोई भी काव्य, जिसमें कुछ न कुछ तत्व है, अन्य कवि कृत काव्य के 'छायाग्रहणमात्र' से 'पुनरुक्त' नहीं हो जाया करता। कोई भी कवि, चाहे वह साक्षात् वाचस्पति क्यों न हो, न तो नए नए अक्षरों को गढ़ता है और न नए नए पदों को बनाता है। उन्हीं पदों की रचना जिन्हें कालिदास ने की, भवभूति ने भी की किन्तु जैसे कालिदास की कृतियाँ मौलिक मानी जाती हैं वैसे ही भवभूति की भी कृतियाँ मौलिक ही मानी जाती हैं।

मौलिकता के विघात का एकमात्र निदान : काव्यापहरण अथवा काव्य में चोरी

ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने काव्यगत मौलिकता का सबसे बड़ा शत्रु 'काव्यापहार' अथवा 'काव्य में चोरी' को माना है। कविजन यदि चोरी की इच्छा न करें तो सरस्वती के कृपा प्रसाद से कभी भी वञ्चित न हों। आनन्द-वर्धन के ध्वनिवाद का, कवियों के लिए, यह मंगलानुशासन सदा स्मरण करने योग्य है[3]—

प्रतायन्तां वाचो निर्मितविविधामृतरसा।
न सादः कर्त्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये ॥
परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः।
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती ॥

१. ध्वन्यालोक ४.१२। २. वही ४.१४। ३. वही ४.१७।

वक्रोक्तिवाद की दृष्टि में काव्य में मौलिकता

अलंकारशास्त्र के इतिहास में आचार्य कुन्तक (१० वीं–११ वीं शताब्दी) की काव्यालोचना का दृष्टिकोण ध्वनिवाद से प्रभावित होने पर भी मौलिक अथवा नवीन है। आचार्य कुन्तक नवीनता के पुजारी हे। ध्वनिवादी काव्यशास्त्र की मान्यताओं के मनन चिन्तन में कुन्तक ने वक्रोक्तिवाद की नवीन मान्यता की उद्भावना की है। काव्यालंकारशास्त्र के प्राचीन प्रबन्धों के प्रति कुन्तक के हृदय में एक प्रकार की वितृष्णा दिखाई देती है। 'अलंकारशास्त्र के प्राचीन प्रबन्ध चमत्कार शून्य हैं'[1] इस भावना से प्रेरित होकर कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्तिजीवित' की रचना की थी। ऐसी भावना नवीनता के उपासक में ही हो सकती है। काव्यशास्त्र की पुरानी मान्यताओं के बीच नवीन मान्यता की खोज कोई तभी कर सकता है जब कि उसमें काव्यसाहित्य के निरूपण के प्रति नवीन दृष्टिकोण का उन्मेष हो जाये। यहां कुन्तक की काव्यदृष्टि की नवीनता का विमर्श अभिप्रेत नहीं अपितु कुन्तक की दृष्टि में काव्य में नवीनता (मौलिकता) का विमर्श अभिप्रेत है।

कवि की साहित्यकला और काव्य की मौलिकता

कुन्तक की दृष्टि में किसी काव्य की मौलिकता अथवा अपूर्वता की पहिचान उसकी कालक्रमागत प्राथमिकता में नहीं अपितु उसकी लोकोत्तर-आनन्द जनकता में है। किसी काव्य की लोकोत्तरआनन्दकनकता अथवा अलौकिक चमत्कारकारिता का रहस्य नए नए शब्द और नए नए अर्थ की उद्भावना और स्थापना में नहीं अपितु लोकप्रतीत शब्द और अर्थ की 'विचित्र अभिधा' अथवा 'भंगीभणिति' में रहा करता है। यह 'भंगीभणिति' ही वक्रोक्ति है जो कि काव्य का पारमार्थिक तत्व है और जिसमें साहित्य का सार अन्तर्निहित रहा करता है। शब्द और अर्थ में साहित्य रचना ही कवि का कर्म है। जो भी इस कवि व्यापार में निपुण हो जाये उसकी कृति सदा अपूर्व, सदा नवीन, सदा मौलिक ही लगेगी। कुन्तक ने इस कविकर्म अथवा साहित्य की सृष्टि पर एक बड़ी मौलिक कविता रची है जो कि यह है।[2]

अपर्यालोचितेऽप्यर्थे बन्धसौन्दर्यसम्पदा।
गीतवद्हृदयाह्लादं तद्विदां विदधाति यत्॥

---

१. वक्रोक्तिजीवित १.२ वृत्ति।

२. वक्रोक्तिजीवित १.१७ वृत्तिभाग।

वाच्यावबोधनिष्पत्तौ पदवाक्यार्थवर्जितम् ।
यत्किमप्यर्पयत्यन्तः पानकास्वादवत्सताम् ॥
शरीरं जीवितेनेव स्फुरितेनेव जीवितम् ।
विना निर्जीवता येन वाक्यं याति विपश्चिताम् ॥
यस्मात्किमपि सौभाग्यं तद्विदामेव गोचरम् ।
सरस्वती समभ्येति... ... ...

अर्थात् साहित्य कवि की वह कला है जिसकी महिमा से शब्दार्थबन्ध में एक अद्भुत सौन्दर्य निखर उठता है तथा अर्थ के पर्यालोचन के बिना भी सहृदय हृदय संगीत के से आनन्द से भर उठता है। और जब कि पद पदार्थ का अवबोध वाक्यार्थ के अवबोध में परिणत हो जाता है तब सहृदय का हृदय 'रस' अथवा आनन्द की अनुभूति में लीन हो जाता है। इस साहित्य के न होने पर काव्य उसी प्रकार निर्जीव प्रतीत होता है जिस प्रकार आत्मा के न होने पर शरीर अथवा स्फुरणशीलता (शक्तिस्पन्दन) के न होने पर जीवन। यह साहित्य ही वह अद्भुत तत्व है जो वाणी को सौभाग्यसम्पन्न बनाता है और जिसका रहस्य साहित्यवेदी लोग ही जाना करते हैं।

काव्य-बन्ध की अपूर्वता अथवा नवीनता एक शब्द में मौलिकता का परम निदान वस्तुतः कवि की 'साहित्य' कला है। किसी प्राचीन अथवा समकालीन कवि की कृति के अनुकरणमात्र से 'साहित्य कला' की सिद्धि नहीं हो सकती है। साहित्य-कला का सम्बन्ध कवि की प्रतिभा के साथ है। शब्दार्थयोजना का अनुकरण भले ही सम्भव हो किन्तु 'प्रतिभा' अनुकरण द्वारा नहीं उत्पन्न की जा सकती। साहित्य-कला कवि-प्रतिभा का प्रसार है और इस साहित्य कला की कृति को भी 'साहित्य' (काव्य) कहते हैं। कुन्तक ने इसीलिए कहा है[1]

'एतयोः शब्दार्थयोर्थयास्धं यस्याँ स्वसम्पत्सामग्री समुदायः सहृदयाह्लादकारी परस्परस्पर्धया स्फुरति सा काचिदेव वाक्यविन्यासस्पत् साहित्यव्यपदेशभाग भवति'।

इसका अभिप्राय यह है कि कवि की काव्यकला अथवा साहित्यकला का परिणाम उस कृति के रूप में दिखाई देता है जिसे काव्य अथवा साहित्य एक अपूर्व अथवा नवीन 'वाक्य विन्यास' है जिसमें शब्द और अर्थ सौन्दर्य की होड़ में एक दूसरे से पीछे नहीं पड़ना चाहते हैं और परस्पर स्पर्द्धा में पड़कर सहृदयहृदय को प्रभावित किया करते हैं।

ऐसी 'वाक्यविन्यासस्पत्ति' जिसे कुन्तक ने 'साहित्य' कहा है,

१. वक्रोक्तिजीवित १.१७ वृत्ति।

महाकवि कालिदास की निम्नोद्धृत सूक्ति के दृष्टान्त पर देखी जा सकती है[१]

तां प्राङ्मुखीं तत्र निवश्य तन्वीं
क्षणं व्यलम्बन्त पुरो निषण्णाः ।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः
प्रसाधने सन्निहितेपि नार्यः ॥

यहां महाकवि ने पार्वती के सहज सौन्दर्य और सौकुमार्य को अपनी साहित्य-कला की अपूर्व सृष्टि का विषय बनाया है । कवि के हृदय में पार्वती के अद्भुत स्वाभाविक शोभातिशय के प्रतिपादन की उत्कण्ठा भरी है । शब्द और अर्थ के अलंकारों की योजना से, कवि अशंकित है कि कहीं उसके विषय 'पार्वती सौन्दर्य' की स्वाभाविक शोभा छिप न जाए । सहज सौन्दर्य के प्रदर्शन के लिए अलंकार-विकल्प अनावश्यक है । सहज सौन्दर्य लोक प्रतीत शब्द और अर्थ की योजना की कला से ही सहृदय-हृदय में रस-भाव की सृष्टि करने में समर्थ है इस भावना से प्रेरित होकर महाकवि ने यहां अलंकार विन्यास नहीं किया । बिना अलंकारगोजना के ही पार्वती का 'सौन्दर्य' कवि की साहित्य कला की महिमा से एक शाश्वत सौन्दर्य के रूप में प्रकाशित हो रहा है ।

कवि की वस्तु-वर्णन में वक्रता और काव्यगत मौलिकता

महाकवि का यह सौन्दर्य वर्णन मौलिक अथवा नवीन है इसमें कोई सन्देह नहीं । इसकी नवीनता अथवा मौलिकता के मूल में कवि की उस प्रतिभा दृष्टि का हाथ दिखाई देता है जिसके विश्लेषण में कुन्तक ने 'वस्तुवक्रता' के एक प्रकार-विशेष का रहस्य देखा है । इस वस्तुवक्रता का कुन्तक ने इस प्रकार निरूपण किया है[२]

उदारस्वपरिस्पन्दसुन्दरत्वेन वर्णनम् ।
वस्तुनो वक्रशब्दैकगोचरत्वेन वक्रता ॥

अर्थात् वर्णनीयरूप से अभिप्रेत पदार्थ के स्वानुभूत अत्यन्त रमणीय स्वाभाविक धर्म का ऐसा प्रतिपादन जिसमें उसका स्वाभाविक सौन्दर्य और सौकुमार्य उपमादि वाच्यालंकारों से तिरोहित न हो सके काव्य का एक नया ही अलंकार है जिसे अन्य सभी अलंकार विकल्पों से पृथक् करने के लिए 'वस्तु-वक्रता 'अथवा' वर्ण्यवस्तु की विचित्र अभिधा' कह सकते हैं । इस प्रकार की उक्ति वक्रता 'अथवा' नवीन विचित्र अभिधा 'में जो भी कविसमर्थ हो वह नवीन काव्यसृष्टि का ही विधाता माना जायेगा । कुन्तक के द्वारा निरूपित इस

---

१. कुमारसम्भव ७.१३ ।   २. वक्रोक्तिजीवित ३.१ ।

प्रकार की 'वस्तुवक्रता' में कालिदास वस्तुतः 'कविकुलगुरु' हैं। स्वभावसुकुमार वस्तु के दर्शन और स्वानुभूत वस्तु-सौन्दर्य के सहज वर्णन में कालिदास की बराबरी कोई कवि नहीं कर पाता। ऐसा लगता है मानो कालिदास की आत्मा अनादि काव्य-वासना से अधिवासित हो। व्युत्पत्ति और अभ्यास कालिदास की काव्य रचना में उनकी प्रतिभा से पृथक तत्त्व के रूप में नहीं प्रतीत होते। व्युत्पति और अभ्यास वस्तुतः कालिदास के कवि स्वभाव के अभिव्यञ्जन में अपना स्वरूप खो बैठते हैं। यही कारण है जिससे कालिदास को काव्य के सर्वोत्कृष्ट मार्ग 'सुकुमारमार्ग' का विधाता मानना पड़ता है। कालिदास का यह 'काव्यमार्ग' महर्षि वाल्मीकि के काव्यमार्ग से प्रभावित भले ही हो किन्तु अपने स्वरूप और स्वभाव में सर्वथा नवीन है। इस मार्ग की मौलिकता अथवा स्वभावगत नवीनता के सम्बन्ध में कुन्तक की यह उक्ति स्मरणयोग्य है।

'अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः।
अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः ॥
भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्यकौशलः।
रसादिपरमार्थज्ञमनः-संवादसुन्दरः ॥
अविभावितसंस्थानरामणीयकरञ्जकः ।
विधिवैदग्धनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपमः ॥
यत् किंचनापि वैचित्रं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम्।
सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि यत्र विराजते ॥
सकुमाराभितः सोऽयं येन सत्कवयो गताः।
मार्गेणोत्फुल्लकुसुमकाननेनेव षट्पदाः ॥

अर्थात् कालिदास प्रभृति महाकवियों का काव्य मार्ग जिसे 'सुकुमार' कहना चाहिये, वस्तुतः ऐसा कवि प्रतिभा का मार्ग है जो कभी म्लान नहीं होती। इस मार्ग का अनुगमन करने वाले कवि शब्द और अर्थ के सार का संग्रह करने वाले होते हैं। ऐसे कवियों की अलंकार योजना वर्ण्यवस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य की अभिवृद्धि करनेवाली होती है। ऐसे कवियों के वस्तुवर्णन में वस्तु-स्वभाव की महिमा अभिव्यक्त होती है, व्युत्पत्ति का विलास दृष्टिगोचर नहीं होता। ऐसे कवियों की कृतियों में सहृदय का हृदय रसमय और तन्मय हुआ करता है। ऐसे कवियों की काव्यकृतियों के चमत्कार का परिच्छेद अथवा विश्लेषण संभव नहीं और ऐसे कवियों का रम्यनिर्माण ऐसा लगता है मानो एकमात्र प्रतिभा प्रसूत एवं क्षण क्षण नवीन हो।

वस्तुतः कालिदास सदृश महाकवियों की कृतियों की अम्लानता और नवीनता अथवा मौलिकता के विश्लेषण में ही कुन्तक ने काव्य के अभिनव मार्ग अथवा सुकुमार मार्ग का दिग्दर्शन किया कराया है। कालिदास की 'वस्तुवक्रता' के विश्लेषण में भी वस्तुतः कुन्तक ने वस्तु दर्शन की उनकी अभिनव प्रतिभा-दृष्टि का ही स्वरूप निरूपण किया है। जैसे पार्वती के सौन्दर्य वर्णन में कालिदास की अम्लान प्रतीत प्रनिभा होती है वैसे ही शकुन्तला के सौन्दर्यनिरूपण में भी उनकी प्रतिभा का दृष्टिकोण नया ही लगता है। शकुन्तला के सहज सौन्दर्य के अभिव्यञ्जन में कालिदास की निम्नोद्धृत सूक्ति देखिये[1]—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

यहां भी विषय नारी का सहज सौन्दर्य ही है किन्तु इस सहज सौन्दर्य के प्रकाशन के लिए अयत्न साध्य वाच्यालंकार की अक्लिष्ट योजना भी की हुई है। इस सूक्ति के तीन चरण 'प्रतिवस्तूपमा' की माला से सुशोभित हैं और चौथे चरण में 'अर्थान्तरन्यास' का विन्यास देखने योग्य है। अलंकार की योजना यहां सहज को छिपाती नहीं अपितु और भी अधिक सुन्दर बनाती दिखाई दे रही है। पार्वती और शकुन्तला के सौन्दर्य दर्शन में महाकवि के दृष्टिकोण बदले हुए हैं जिसके कारण पार्वती के स्वाभाविक सौन्दर्य के निरूपण में अलंकारयोजना अनावश्यक हो गई है और शकुन्तला के सहज सौन्दर्य के अभिव्यंजन में वाच्यालंकारों की अक्लिष्ट योजना उपयुक्त समझी गई है। वाच्यालंकारों की योजना से भी शकुन्तला के सौन्दर्य की स्वाभाविकता घटती नहीं अपितु बढ़ती ही है। महाकवि की ऐसी सूक्तियां एक नयी 'वस्तुवक्रता' का स्वरूप उपस्थित करती हैं जिनके विश्लेषण में कुन्तक का यह उल्लेख है[2]—

अपरा सहजाहार्यकविकौशलशालिनी।
निर्मितिर्नूतनोल्लेखलोकाऽतिक्रान्तगोचरा॥

अर्थात् वर्ण्यवस्तु की 'वक्रता' का एक नया रूप वह है जिसे कवि की शक्ति और व्युत्पत्ति के परिपाक से प्रौढ़ उसकी 'कला' में देखा जा सकता है। कवि की 'कला' जो भी रम्य निर्माण करती है उसे देखने पर यह नहीं प्रतीत होता कि वह कोई अलोक-सामान्य पदार्थ है अपितु ऐसा प्रतीत होता है कि लोक-सामान्य पदार्थ ही एक अलौकिक, अभिनव अथवा हृदयाकर्षक रमणीयता में

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तल १.१७। २. वक्रोक्तिजीवित ३.२।

अवभासित हो रहा है। महाकवि कालिदास की निम्नलिखित सूक्ति में वस्तुतः यही 'वस्तुवक्रता' परिलक्षित होती है[1]—

> अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तद्युतिः।
> श्रृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः॥
> वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहली।
> निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥

नारीसौन्दर्य के वर्णन से सम्बद्ध महाकवि कालिदास की 'तां प्राङ्मुखीम्' तथा 'सरसिजमनुविद्ध' आदि उपर्युक्त सूक्तियों के रहते हुए भी 'अस्याः सर्गविधौ' आदि सूक्ति में एक निराली ही छटा है जिस पर कुन्तक मुग्ध हैं। कुन्तक की दृष्टि में यहां पर महाकवि को उर्वशी की कान्ति, उर्वशी की असीम विलास सम्पत्ति, उर्वशी की रसवत्ता तथा उसकी असामान्यसौष्ठव सुकुमारता का प्रकाशन अभिप्रेत है जिसकी दृष्टि से महाकवि ने एक 'नयी उत्प्रेक्षा' की है। महाकवि की इस नयी कल्पना के आधार लोक प्रतीत ही शब्द और अर्थ है। 'स्वयम्' शब्द की सरलता की व्याख्या नहीं हो सकती। किन्तु यहां यह सर्वप्रयुक्त अथवा सर्वविदित शब्द एक सर्वथा नबीन अथवा मौलिक रूप में निखर उठा है। 'जो स्वयं कान्तद्युति हो उसी की कृति कान्तिमत्ता की कृति हो सकती है, जो स्वयं श्रृंगारैकरस अथवा परम रसिक हो वही रसवत्ता की सृष्टि में स्वभावतः समर्थ हो सकता है तथा जो स्वयं पुष्पाकर हो उसी के लिए यह संभव है कि वह परम सुकुमार वस्तु की रचना कर सके' यह है महाकवि की नवीन कल्पना दृष्टि जो कि चतुर्थ चरण में 'बूढ़े ब्रह्मा' के रम्यनिर्माण विषयक असामर्थ्य के निरूपण के कारण अत्यन्त युक्तियुक्त प्रतीत हो रही है। वेदाभ्यास से जड़बुद्धि बने बूढ़े ब्रह्मा को कान्ति की पहचान कहां! नीरस बूढ़े ब्रह्मा के हृदय में 'रसवत्ता' का स्थान कहां। बुढ़ापा के कारण ब्रह्मा के हृदय में सरस सुकुमार वस्तु की रचना का उल्लास कहां! इस युक्ति और तर्क से महाकवि की उत्प्रेक्षा सबल बन जाती है और उर्वशी का सहज सौन्दर्य महाकवि की कला की एक नवीन सृष्टि के रूप में सहृदयों के समक्ष उपस्थित हो जाता है।

कवि की वाक्यवक्रता और काव्य की नवीनता (मौलिकता)

कवि प्रतिभा के नूतन उल्लेख का एक तीसरा प्रकार वह है जिसे कुन्तक ने 'वाक्य वक्रता' के रूप में प्रतिपादित किया है।[2]

---

१. विक्रमोर्वशीय १.८। २. वक्रोक्तिजीवित ३.३,४।

मार्गस्य वक्रशब्दार्थगुणालंकारसम्पदः ।
अन्यद् वाक्यस्य वक्रत्वं तथाभिहितजीवितम् ॥
मनोज्ञफलकोल्लेखवर्णच्छायाश्रियः पृथक् ।
चित्रस्येव मनोहारि कर्तुः किमपि कौशलम् ॥

अर्थात् जैसे चित्र में चित्रफलक, वर्णिकाभंग और रेखाविन्यास आदि साधन सौन्दर्य से सर्वथा विलक्षण अथवा इन सभी में आत्मभूत चित्रकार का चित्रकौशल एक पृथक् वैशिष्टय के रूप में प्रतीत होता है. वैसे ही काव्य में भी सुकुमार आदि काव्यमार्गों की सभी विशेषताओं से विलक्षण कवि का निर्माण-कौशल एक नवीन काव्यसौन्दर्य के रूप में सहृदय-हृदय का आकर्षण केन्द्र बन जाता है। चाहे वस्तुस्वभाव के सौकुमार्य का वर्णन हो अथवा रसभाव के स्वरूप सौन्दर्य का उन्मीलन हो अथवा वाच्य शोभा के आधायक तत्वों की योजना हो, वस्तुतः यह कवि कौशल ही वह अद्भुत तत्व है जिसक महिमा से काव्य का सौन्दर्य अनन्त अथवा अपरिच्छिन्न हो जाया करता है। अनुप्रास और उपमादि शब्द और अर्थ के अलंकार अपने प्राचीन स्वरूप में ही अवस्थित रहते हैं, वस्तुओं का स्वरूप और स्वभाव भी वही रहता है जो सृष्टि के आरम्भ से रहता आया है किन्तु 'वाक्यवक्रता' नामक कविकला की विशेषता से इन सबनें एक अद्भुत मौलिकता अथवा नवीनता आ जाती है जो देखते ही बनती है। कुन्तक ने इस 'वाक्यवक्रता' के उदाहरण रूप में प्राकृत महाकवि वाक्पतिराज की निम्नोद्धृत सूक्ति उपस्थित की है[1]।

असंसारं कइपुंगवेहि पडिदिअहगहिअसारो वि।
अज्जवि अभिन्नमुद्धोव्व जअइ वाआं परिप्फंदो ॥
(आसंसारं कविपुगःवै प्रतिदिवसगृहीतसारोऽपि ।
अद्याप्यभिन्नमुद्रः स जयति वाचां परिस्पन्दः ॥)

यहां वाक्य का अर्थ यह है 'सृष्टि के आरम्भ से लेकर एक के बाद एक, अनेक कविजन अपनी अपनी प्रतिभाशक्ति से नए नए काव्य रचते आ रहे हैं किन्तु कवि प्रतिभा के अभिनव उल्लेख की सीमा का अंकन नहीं हो सकता।' इस वाक्यार्थ के प्रतिपादन में वाक्पतिराज की 'वाक्यवक्रता' अथवा 'रचना कुशलता' दर्शनीय है। यहां वाक्पतिराज अपनी कविप्रतिभा के प्रति अपने अभिमान का प्रकाश करना चाहते हैं और यह प्रकाशन कितना विलक्षण है इसे सहृदय पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं। महाकवि भवभूति ने भी अपनी कवि प्रतिभा के प्रति कभी अपना अभिमान अभिव्यक्त किया था[2]।

---

१. वाक्पतिराज : गौडवहो २. भवभूति मालतीमाधव १.६ ।

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः ।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥

किन्तु महाकवि भवभूति की उपर्युन सूक्ति में वह 'वाक्यवक्रता' नहीं जो महाकवि वाक्पतिराज की 'आसंसार' आदि सूक्ति में झलक रही है 'असंसार' आदि सूक्ति अपने रचयिता की प्रतिभा के नव नव उल्लेख का ही निरूपण नहीं करती अपितु कवि की अनन्तता और नवीनता का निर्देश कर देती है।

निम्नलिखित सूक्ति एक अज्ञातनामा कवि की है जिसे 'सुभाषितावली'-कार ने उद्धृत किया है और अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक ने भी—

किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्न नवा वल्लरी
लीलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारांनिधेः ।
उद्गाढोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यासविश्रम्भिणः
किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृङ्गारिणः ॥

इस सूक्ति में भी नारी सौन्दर्य की ही अभिव्यक्ति है जिसे हम महाकवि कालिदास की पूर्वोद्धृत तीन तीन सूक्तियों में देख चुके हैं किन्तु तब भी इस सूक्ति में नवीनता है, एक मौलिकता है जिसका श्रेय इसके रचयिता की रचना कुशलता को है। इस सूक्ति के रचयिता ने 'नारी सौन्दर्य के वर्णन के लिए सन्देहालंकार से विभूषित 'रूपक' अलंकार की शोभा का आश्रय लिया है। यहां नारी सौन्दर्य रूप वर्ण्यवस्तु का स्वाभाविक सौन्दर्य और इसके वर्णन में कवि कल्पना का सौन्दर्य दोनों एक दूसरे को शोभा बढ़ाते दिखाई दे रहे हैं और इस प्रकार के 'रम्यकाव्य' के निर्माता की 'अभिनवकाव्यकुशलता से सहृदय को प्रभावित करते होते हैं।

कुन्तक ने काव्यगत मौलिकता अथवा अभिनव रमणीयता के मूल में इस प्रकार की कविकुशलता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उनका कहना है[१]—

रसस्वभावालंकारा आसंसारमपि स्थिताः ।
अनेन नवतां यान्ति तद्विदाह्लाददायिनीम् ॥

अर्थात् काव्य में मौलिकता अथवा नवीनता का दर्शन भी सहृदयता की एक पहचान है। यह मौलिकता अथवा नवीनता चित्रकार के चित्रनिर्माणकौशल की भांति काव्यकार के काव्यनिर्माणकौशल पर निर्भर है। वस्तुत. कवि के

१. वक्रोक्तिजीवित ।

काव्यनिर्माणकौशल की ही यह महिमा है जिससे वस्तु स्वभाव, रसभाव अथवा अलंकार विकल्प सभी पुराने होते हुए भी नए-नए रूप में अवतार लेते रहते हैं और नए-नए रूप में अवतार लेते रहेंगे।

भिन्न-भिन्न काव्यमार्ग और मौलिक काव्यों की सृष्टि

कुन्तक के अनुसार कविशक्ति अथवा कविकौशल के नव-नव उन्मेष का एक परिणाम वह है जो 'बन्धसौन्दर्य' के रूप में दिखाई देता है। सुकुमार मार्ग के कवियों का 'बन्ध सौन्दर्य' कुछ और है जिसका दर्शन हम कर चुके हैं। किन्तु इस मार्ग से विलक्षण एक दूसरा काव्यमार्ग है जिसके अनुगामी कवियों का 'बन्धसौन्दर्य' कुछ और ही होता है। यह दूसरा काव्यमार्ग सुकुमारमार्ग से विलक्षण होने के नाते विलक्षण मार्ग के रूप में देखा जाया करता है। विचित्र मार्ग के अनुगामी कवियों की कृति सुकुमार मार्ग के अनुगामी कवियों की कृति से कम मौलिक नहीं होती। इतना ही नहीं कि 'विचित्र' नामक काव्यमार्ग और 'सुकुमार' नामक काव्यमार्ग परस्पर विलक्षण होते हैं अपितु इन मार्गों पर चलनेवाले दो कवियों के 'बन्ध सौन्दर्य' भी परस्पर विलक्षण होते हैं। काव्यगत मौलिकता की दूसरी राशि के रूप प्रदर्शन में कुन्तक ने 'विचित्र मार्ग' का बड़ा मार्मिक अथवा ओजस्वी वर्णन किया है[1]—

प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता।
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते॥
अलंकारस्य कवयः यत्रालंकरणान्तरम्।
असन्तुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवत्॥
रत्नरश्मिच्छटोत्सेकभासुरैर्भूषणैर्यथा ।
कान्ताशरीरमाच्छाद्य भूषायै परिकल्प्यते॥
यत्र तद्वदलंकारैर्भ्राजमानैर्निजात्मना ।
स्वशोभातिशयान्तःस्थमलंकार्यं प्रकाश्यते॥
यदप्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तदप्यलम्।
उक्तिवैचित्र्यमात्रेण काष्ठां कामपि नीयते॥
यत्रान्यथाभवत् सर्वमन्यथैव यथारुचि।
भाव्यते प्रतिभोल्लेखमहत्त्वेन महाकवेः॥
प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते।

---

१. वक्रोक्तिजीवितः १.३४.४३।

वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां व्यतिरिक्तस्य कस्यचित् ॥
स्वभावः सरसाकूतो भावानां यत्र बध्यते ।
केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहितः ॥
विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते ।
परिस्फुरति यस्यान्तः सा काप्यतिशयाभिधा ॥
सोऽतिदुःसञ्चरो येन विदग्धकवयो गताः ।
खड्गधारापथेनेव सुभटानां मनोरथाः ॥

अर्थात् 'काव्य का सुकुमारमार्ग यदि सुरभित कुसुम-कानन है जो कि भ्रमरों की भांति कालिदास प्रभृति महाकवियों का मार्ग है तो काव्य का विचित्र मार्ग तलवार की धार है जिस पर चलना, सुभट योद्धाओं की भाँति बाण सरीखे महाकवियों के ही वश की बात है। इस विचित्र मार्ग की विशेषतायें भी बड़ी विचित्र हैं। इस मार्ग के महापथिक वाण प्रभृति महाकवियों की रचनायें ऐसी लगती हैं मान ो बिना किसी प्रयत्न के ही, उनके शब्द और अर्थ में, स्वभाव-सुलभ 'वक्रता' विराजमान हो। इस मार्ग पर चलनेवाले कविजन एक अलंकार की योजना की सुन्दरता बढ़ाने के लिए दूसरे अलंकार की कल्पना में उत्सुक रहा करते हैं। जैमे नाना प्रकार के रत्नों से खचित कटक, केयूर आदि आभूषण कामिनी शरीर को अपनी कान्तिच्छटा से आच्छादित करते हुए भी उसके सौन्दर्य की वृद्धि करने में तत्पर रहते हैं वैसे ही अपने-अपने सौन्दर्य को अवभासित करनेवाले वाच्य के अलंकार भी, विचित्र काव्य-बन्धों में वर्ण्यवस्तु के स्वभाव सौन्दर्य को अपनी आभा से आच्छन्न करते हुए भी उसकी मनोहरता की अभिवृद्धि करने में ही निरत रहा करते हैं। विचित्र मार्ग के कवियों का उक्तिवै-चित्र्य कुछ ऐसा होता है जिससे अतिसाधारण भी वर्ण्यवस्तु विचित्र रूप से सुन्दर बन जाती है। इन कवियों की प्रतिभा का उन्मेष ऐसा विलक्षण होता है जिससे लोक में भिन्न रूप से प्रतीत होनेवाले साधारण पदार्थ काव्य में वर्णित होने पर एक रमणीय रूपान्तर में विचारज-मान हो जाते हैं और सर्वप्रतीत वस्तुस्वभाव में भी एक सरसता अथवा लोकोत्तरहृदयहारिता का सञ्चार हो जाता है। महाकवि बाण के 'हर्षचरित'[1] से उद्धृत निम्न काव्य-वाक्य में 'विचित्र बन्ध' का स्वरूप देखिये—

'कतमः प्रविजृम्भितविरहव्यथः शून्यतां नीतो देशः।'

अथवा

'कानि च पुण्यभाञ्जि भजन्त्यभिख्यामक्षराणि।'

---

१. हर्षचरित प्रथम।

यहाँ 'कहाँ से आये ?' अथवा 'क्या नाम है ?' यही प्रतिपाद्य है किन्तु इस 'प्रतिपाद्य' को विचित्र स्वभाव के महाकवि ने 'अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार' के कान्ति रस में रंगकर ऐसा विचित्र बना दिया है कि देखते ही बनता है।

'सुकुमारमार्ग' की अपनी विशेषतायें हैं और 'विचित्रमार्ग' की अपनी। सुकुमारमार्ग के पथिक कवियों में प्रत्येक की अपनी विशेषतायें हैं और विचित्र मार्ग के पथिक कबियों में भी प्रत्येक में अपनी-अपनी विशेषतायें हैं। विश्लेषण की सुविवा के लिए ही काव्यगत विचित्रता अथवा नवीनता की ये दो राशियां निर्धारित की जा सकती हैं किन्तु वास्तविकता यह है कि इन दोनों में भी प्रत्येक की अपनी-अपनी विचित्रताएँ हैं जिनकी इयत्ता का निर्धारण करना सम्भव नहीं।

काव्यनत वैचित्र्य की इन दो परस्पर भिन्न-भिन्न विधाओं के समन्वय में एक तीसरा भी मार्ग दृष्टिगत होता है जिसे कुन्तक ने 'मध्यम मार्ग' कहा है। यह 'मध्यम मार्ग' दोनों में से किसी मार्ग में गतार्थ नहीं होता। दोनों मार्ग जैसे एक दूसरे की अपेक्षा नए-नए काव्यमार्ग हैं वैसे ही यह 'मध्यममार्ग' भी दोनों मार्गों की अपेक्षा एक नया ही काव्यमार्ग है। इस 'मार्ग' की विशेषताओं के प्रतिपादन में कुन्तक की यह उक्ति है[1]—

वैचित्र्यं सौकुमार्यञ्च यत्र संकीर्णतां गते।
भ्राजेते सहजाहार्यशोभातिशयशालिनी॥
माधुर्यादिगुणग्रामो वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम्।
यत्र कामपि पुष्णाति बन्धच्छायातिरिक्तताम्॥
मार्गोऽसौ मध्यमो नाम नानारुचिमनोहरः।
स्पर्धया यत्र वर्तन्ते मार्गद्वितयसम्पदः॥
अत्रारोचकिनः केचिच्छायावैचित्र्यरञ्जके।
वैदग्धनेपथ्यविधो भुजंगा इव सादराः॥

इसका तात्पर्य यह है 'मध्यम' नामक काव्यमार्ग भी सुकुमार और विचित्र नामक काव्यमार्गों की ही भांति एक पृथक् ही काव्यमार्ग है। इसमें सुकुमार और विचित्र काव्य-बन्ध की भिन्न-भिन्न शोभा-सम्पत्ति संकीर्ण रूप में उपस्थित होकर एक नया सौन्दर्य धारण कर लेती है, इसमें कवि की शक्ति और कवि की व्युत्पत्ति के शोभातिशय पृथक्-पृथक् नहीं अपितु सम्मिलित रूप में झलका करते हैं। परन्तु सौन्दर्य के प्रेम में पगे विरले ही कवि इस मार्ग का आश्रय लेने में उत्सुक दिखाई देते हैं। काश्मीर के कभी अतिप्रसिद्ध महा-

---

१. वक्रोक्तिजीवित १.४९,५२।

कवि मातृगुप्त इस मार्ग के महापथिकों में अग्रणी हो चुके हैं। काव्यबन्ध की सुकुमारता और विचित्रता की परस्पर संवलित शोभा से निर्मित मध्यम काव्यबन्ध की रमणीयता भी निराली ही होती है। महाकवि मातृगुप्त की निम्नलिखित सूक्ति में इस मध्यम-काव्यबन्ध की अभिनव शोभा दर्शनीय है[1]—

शीतेनोद्‌ध्रषितस्य भाषशिमिवच्चिन्तार्णवे मज्जनः
शान्ताग्निं स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षामकण्ठस्य मे।
निद्रा कापि विमानितेव दयिता संत्यज्य दूरं गता
सत्पात्रप्रतिपादितेव वसुधा न क्षीयते शर्वरी॥

काश्मीर के ही दूसरे महाकवि भट्टेन्दुराज का मार्ग यही मध्यम मार्ग रहा है। आचार्य अभिनवगुप्त के ध्वन्यालोकलोचन में उद्‌धृत निम्नलिखित सूक्ति में महाकवि भट्टेन्दुराज के 'मध्यमबन्ध' की निराली छटा देखिये[2]—

'यद्विश्रभ्य विलोकितेषु बहुशो निःस्थेमनी लोचने
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत्।
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निबिडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः॥

'काव्यबन्ध' के उपर्युक्त तीन प्रकारों में विश्लेषण की दृष्टि से, सभी कवियों की रचनाएँ यथास्थान समन्वित हो जाती हैं। ये तीनों काव्य-बन्धप्रकार अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण एक दूसरे से विलक्षण हैं। प्रत्येक कवि और महाकवि के काव्यकौशल के प्रकार का स्वरूप निरूपण कदापि सम्भव नहीं और न आवश्यक ही है। वस्तुतः कवि-प्रतिभा के स्वभाव में ही सौकुमार्य वैचित्र्य और सौकुमार्य-वैचित्र्य के परस्पर संवलन का गुणत्रय विद्यमान है जिसकी अभिव्यक्ति सुकुमार, विचित्र अथवा मध्यम नामक काव्य-बन्धों में हुआ करती है। सत्व, रजस् और तमस् के परस्पर संघर्ष में जैसे प्रकृति की सृष्टि की अनन्त विचित्रता का सीमांकन संभव नहीं वैसे ही सौकुमार्य, वैचित्र्य और सौकुमार्य-वैचित्र्य के सांकर्य के भी परस्पर संवलन और सम्मिलन से संभूत काव्यबन्धों के वैचित्र्य की इयत्ता की अङ्कन असम्भव है। कवि में प्रतिभा चाहिए। प्रतिभा के होने पर जो भी काव्यबन्ध रचा जायेगा उसमें कुछ न कुछ मौलिकता, कुछ न कुछ नवीनता अवश्यमेव होगी। 'वक्रोक्तिजीवित' के तृतीय उन्मेष में, श्लेषालंकार के निरूपण प्रसंग में, कुन्तक ने एक सूक्ति उद्‌धृत की है जिसमें कविजन की 'वैदग्ध्यवक्रता' अथवा 'नवोक्ति'

---

१. कल्हण : राजतरंगिणी ३.१८१ (उद्धरण)।

२. अभिनवगुप्त : ध्वन्यालोकलोचन।

और कामिनी के सरस विलोकन' अथवा कटाक्ष की क्षण-क्षण नवीनता अथवा रमणीयता पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता दिखाई देता है। वह सूक्ति निम्नलिखित है[१]—

'स्वाभिप्रायसमर्पणप्रवणया माधुर्यमुद्राङ्कया
विच्छित्त्या हृदयेऽभिजातमनसामन्तं किमप्युल्लिखत्।
आरूढं रसवासनापरिणतेः काष्ठां कवीनां परं
कान्तानां च विलोकितं विजयते वैदग्ध्यवक्रं वचः ॥

एक वर्ण्यविषय के विविध प्रसंगों में वर्णन और अपूर्व काव्य की सृष्टि

कुन्तक ने काव्यगत नवीनता अथवा मौलिकता की कुछ और रूप रेखाओं का भी प्रदर्शन किया है जिन्हें हम 'वक्रोक्तिजीवित' के उच्छिन्नप्राय चतुर्थ उन्मेष में देख सकते हैं। प्रौढ़ प्रतिभा से सम्पन्न कवि एक ही वस्तु को अपने काव्य के भिन्न-भिन्न प्रकरणों में, अपनी वर्णना का विषय बनाता है किन्तु उस वस्तु के भिन्न भिन्न प्रसंग के वर्णन कुछ न कुछ नवीनता लिए ही निकलते हैं। एक अभिधेय के अभिधान में भी कवि, स्थान-स्थान पर, अपनी कला की नई-नई सृष्टि प्रदर्शित कर सकता है। कहीं रसभाव में कुछ नवीन उल्लेख रहेगा, कहीं अलंकार विकल्प में कुछ नवीन योजना वैदग्धी होगी। उदाहरण के लिए महाकवि बाण की 'कादम्बरी' में एक ही 'चन्द्रोदय' रूप वस्तु के एकाधिक प्रकरणों के वर्णन देखिये। महाकवि बाण ने जाबालि के आश्रम में 'चन्द्रोदय' का वर्णन इस रूप में किया है[२]—

'क्रमेण च रविरस्तं गत इत्युदन्तमुपलभ्य जातवैराग्यो धौतदुकूलवल्कलधवलाम्बरः सतारातःपुरपर्यन्तस्थिततनुः, तिमिरतमालवृक्षलेखं सप्तर्षिमण्डलाध्युषितमरुन्धतीसञ्चरणपूतमुपहिताषाढमालक्ष्यमाणमूलमेकान्तस्थितचासतारकामृगममरलोकाश्रममिव गगनतलममृतदीधितिरध्यतिष्ठत्।'

यहां कवि को महामुनि जाबालि के प्रभाव से उनके आश्रम में, चन्द्रमा भी एक महामुनि के रूप में दिखाई दे रहा है। बाण की दृष्टि में चन्द्रोदय से संबद्ध प्रकृति के सभी रूपों में, एक कारुणिक वीतराग मुनि की प्रकृति के ही रूप प्रतीत हो रहे हैं।

---

१. वक्रोक्तिजीवित : तृतीय उन्मेष (पुनरुद्धरण)।

२. कादम्बरी : कथामुख : जाबालिआश्रम वर्णन प्रकरण।

किन्तु विरहिणी महाश्वेता की अभिसारभूमि में यही चन्द्रोदय एक नवीन-रूप में ही दृष्टिगोचर हो रहा है[1]—

'.........चन्द्रोदयजन्मना विरलविरलेनालोकेन वसन्तवनराजिरिव कुसुमरजसा धूसरतां वासवी दिगयासीत् ।'

ततः शशिकेसरिविदार्यमाणतमः करिकुम्भसंभवेन मुक्ताफलक्षोदेनेव धवलतामुपनीयमानम् उदयगिरिसिद्धसुन्दरीकुचच्युतेन चन्दनचूर्णराशिनेव पांडुरीक्रियमाणम् चलितजलधिजलकल्लोलानिलोल्लासितेन, वेलापुलिनसिकतोद्गमेनेव पाण्डुतामापाद्यमानं पश्चिमेतरमिन्दुधाम्ना दिगन्तरमदृश्यत । शनैः शनैश्चन्द्रदर्शनान्मन्दमन्दस्मितताया दर्शनप्रभेव ज्योत्स्ना निःपतन्ती निशाया मुखशोभामकरोत् । तदनु रसातलादवनीमवदार्योद्गच्छता शेषफणामण्डलेन रजनीकरबिम्बेनाराजत रजनी । क्रमेण च सकलजीवलोकानन्दकेन कामिनीजनवल्लभेन किञ्चिदुन्मुक्तबालभावेन मकरध्वजबन्धुभूतेन समुपारूढरागेण सुरतोत्सवोपभोगैकयोग्येनामृतमयेन यौवनेनेवारोहता शशिना रमणीयतामनीयत यामिनी ।

यहां 'चन्द्रमा' का उदय 'कामदेव' के अभिन्न मित्र के आगमन के रूप में वर्णित है क्योंकि इसके द्वारा महाश्वेता की विरहव्यथा के उद्दीपन का औचित्य कवि की दृष्टि में सर्वोपरि है ।

यही 'चन्द्रोदय' कादम्बरी के प्रेमवर्णन के प्रकरण में भी वर्णित है किन्तु इसका रूप कुछ और ही है[2]—

'ततो चिरादिव गृहीतपादः प्रसाद्यमान इव कुमुदिनीभिः, कलुषमुखीः कुपिता इव प्रसादयन्नाशाः, प्रबोधशंकयेव परिहरन् सुप्ताः कमलिनीः, लाञ्छनच्छलेन निशामिव हृदयेन समुद्वहन् , रोहिणीचरणताडनलग्नमलक्तकरसमिवोदयरागं दधानः, तिमिरनीलाम्बरां दिवमभिसारिकामिवोपसर्पन् , अतिवल्लभतया विकिरन्निव सौभाग्यमुदगाद् भगवानीक्षणोत्सवः सुधासूतिः ।'

यहां कवि कादम्बरी और चन्द्रापीड की मनःस्थिति तथा निशा और चन्द्र की परिस्थिति में एकरसता का आनन्द ले रहा है और सहृदयों को भी इस आनन्द के अनुभव की ओर निमन्त्रित कर रहा है ।

एक इतिवृत्त की रचना में भी काव्यों की मौलिकता

काव्य में नवीनता की एक रूपरेखा वह है जिसे कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' के चतुर्थ उन्मेष में निम्नलिखित कारिका और उसकी वृत्ति में निर्दिष्ट किया है[3]—

---

१. कादम्बरी : पूर्वभाग : महाश्वेतावर्णन प्रकरण ।

२. कादम्बरी : पूर्वभाग : कादम्बरीवर्णन प्रकरण ।

३. वक्रोक्तिजीवित ४.२५ ।

अप्येककथया बद्धा काव्यबन्धाः कवीश्वरैः ।
पुष्णन्त्यनर्घामन्योन्यवैलक्षण्येन वक्रताम् ॥

इदमत्र तात्पर्यम् एकामेव कामपि कन्दलितकामनीयकां कथा निर्वहद्भिः बहुभिरपि कविकुञ्जरैर्निबध्यमाना बहवः प्रबन्धा मनागप्यन्योन्यसंवादनमनासादयन्तं सहृदयहृदयाह्लादकं कमपि वक्रिमाणमादधाति । यथा रामाभ्युदय-उदात्तराघववीरचरितबालरामायणकृत्यारावणमायापुष्पकप्रभृतयः । ते हि प्रबन्धप्रवरास्तेनैव कथामार्गेण निरर्गलरसासारगर्भसंपदा प्रतिपदं प्रतिवाक्यं प्रति प्रकरणञ्च प्रकाशमानाभिनवभंगीप्राया......नवनवोन्मीलितनायकगुणोत्कर्षास्तेषां हर्षातिरेकमनेकशोऽप्यास्वाद्यमानाः समुत्पादयन्ति सहृदयानाम् । एवमन्यदपि निदर्शनान्तरमुद्भावनीयम् ।

इसका अभिप्राय यह है कि अनेकसंख्यक कवि किसी एक कथानक को भी अपने दृश्य अथवा श्रव्य काव्य के इतिवृत्त के रूप में ग्रहण करके ऐसी प्रबन्धरचना कर देते हैं कि जिसे देखने पर परस्पर एक दूसरे में वैसादृश्य अथवा वैलक्षण्य ही दिखाई देता है और सहृदयों के समक्ष प्रत्येक में कोई न कोई नवीनता झलकने लगती है । रामायण के एक ही कथाभाग पर इतिवृत्त रचना होने पर भी रामाभ्युदय, उदात्तराघव, महावीरचरित, उत्तररामचरित, बालरामायण, कृत्यारावण, मायापुष्पक आदि-आदि नए-नए ही श्रव्य अथवा दृश्य काव्य बने हैं ।

इन श्रव्य अथवा दृश्य काव्यों के प्रत्येक पद, प्रत्येक वाक्य, प्रत्येक प्रकरण, परस्पर एक दूसरे से रसभाव-निरूपण में, विन्यास सौष्ठव में, अलंकार-विनियोग में, किं बहुना प्रत्येक काव्य सम्बन्धी वैशिष्ट्य में भिन्न-भिन्न हैं तथा अपनी-अपनी मौलिकता में पृथक्-पृथक् रूप से सुन्दर प्रतीत होते हैं । इन काव्य-प्रबन्धों में नायक के गुणों का भी परस्पर भिन्न-भिन्न रूप से ही निरूपण है जिसमें सहृदयों को भिन्न भिन्न प्रकार के सरसोपदेश मिलते हैं जो उनकी जीवन यात्रा के पाथेय का कार्य करते हैं ।

सरसोपदेश की दृष्टि से काव्यकृतियों की विलक्षणता

श्रव्य अथवा दृश्य काव्यों में परस्पर वैलक्षण्य का दर्शन इनके रचनाकारों के नए नए ढंग से पुरुषार्थचतुष्टय के प्रतिपादन में भी हुआ करता है । कुन्तक ने इसीलिए कहा है[१]—

नूतनोपायनिष्पन्ननयवर्त्मोपदेशिनाम् ।
महाकविप्रबन्धानां सर्वेषामस्ति वक्रता ॥

१. वक्रोक्तिजीवित ४.२६ ।

अर्थात् महाकवियों का यह स्वभाव है कि 'नवनिर्माणनैपुण्य' में वे एक दूसरे के पीछे नहीं रहना चाहते हैं। इस 'नवनिर्माणनैपुण्य' का ही यह परिणाम है कि 'धर्मार्थकाममोक्ष' के चतुष्टय का स्वरूप भिन्न-भिन्न महाकवि प्रबन्धों में भिन्न-भिन्न प्रकार का औचित्य और सौन्दर्य लिए प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए महाकवि बाण की 'कादम्बरी' का नयमार्गोपदेश देखिये और महाकवि विशाखदत्त के रूपक-काव्य का 'नयमार्गोपदेश' देखिये। दोनों में अपनी अपनी विशेषता ही का दर्शन होगा। इन्हें देखने पर यह कदापि अनुभव नहीं हो सकता कि बाण की कादम्बरी का 'नयमार्ग' मौलिक है और विशाखदत्त के मुद्रा-राक्षस का नयमार्ग 'अनुकरण' है। महाकवियों की प्रतिभा अनुकरण में अपना प्रकाशन नहीं करती। उसका प्रकाशन तो नव नव रम्य निर्माण में ही हुआ करता है।

राजानक कुन्तक की यह सूक्ति इस प्रसंग में स्मरण करने योग्य है जिसमें उन्होंने काव्यगत 'मौलिकता' के सिद्धान्त का उपसंहार सा किया है[१]—

वाग्वल्ल्याः पदपल्लवास्पदतया या वक्रतोद्भासिनी
विच्छित्तिः सरसत्वसम्पदुचिता काप्युज्ज्वला जृम्भते।
तामालोच्य विदग्धषट्पदगणैर्वाक्यप्रसूनाश्रयं
स्फारामोदमनोहरं मधु नवोत्कण्ठाकुलं पीयताम्॥

अर्थात् महाकवियों की कविता-लता के पदरूपी पल्लवों की कान्ति कभी पुरानी नहीं होती और न उसके वाक्य-रूपी सुरभित पुष्पों का रस कभी म्लान होता है। सहृदय सामाजिकों का कार्य अपने में भ्रमरवृत्ति का आधान करना है जिससे उसकी रसपान की उत्कण्ठा सदा नई बनी रहे और काव्य-कानन में सदा वसन्त विराजमान रहे।



१. वक्रोक्तिजीवित २.३५।

संस्कृत काव्य साहित्य में मौलिकता की भावना

संस्कृत के कवियों में काव्यगत मौलिकता की भावना एक पुरानी कवि परम्परा के रूप में चली आ रही है। महाकवि कालिदास से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक शताब्दियों पर्यन्त जितने भी संस्कृत के श्रव्य अथवा दृश्य काव्य के रचयिता हुए हैं, उनका हृदय अपनी कृतियों की नवीनता की ही सृष्टि से भरा प्रतीत होता है। वस्तु में नवीनता हो अथवा दृष्टि में नवीनता हो, दोनों प्रकार की नवीनता की भावना संस्कृत कवियों की मूल प्रेरणा-सी प्रतीत होती है। नवीनता और रमणीयता एक ही तत्त्व हैं। वस्तु में यदि रमणीयता न हो तो उसके दर्शन में उसकी क्षण-क्षण नवीनता कहां से आ जायगी। नवीनता क्या है? रमणीयता और नवीनता में क्या सम्बन्ध है? ये दोनों बातें महाकवि माघ की इस प्रसिद्ध सूक्ति में निर्दिष्ट हैं[1]—

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः॥

अर्थात् सौन्दर्य क्या है? इसका उत्तर यही है कि जो नवीन है वह सुन्दर है और जो सुन्दर है वह नवीन है।

माघ की इस नवीनता-दृष्टि में वस्तुतः माघ के पूर्ववर्ती संस्कृत कवियों की नवीनता दृष्टियां झांक रही हैं।

कालिदास की काव्य कृतियों में मौलिकता (नवीनता) की धारणा

कालिदास की श्रव्य अथवा दृश्य काव्य की कृतियों को देखिये। प्रायः प्रत्येक में उन्होंने अपनी कृति की मौलिकता अथवा नवीनता का संकेत स्थूल और सूक्ष्म रूप में कर दिया है। रघुवंश का निम्नलिखित श्लोक देखिये[2]—

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णसूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥

इस श्लोक में, जहाँ कवि में अहम्मन्यता का अभाव प्रकाशित होता है वहां साथ ही साथ यह भी प्रकाशित हो जाता है कि रघुवंश की रचना में रचयिता कवि की दृष्टि से प्राचीनता क्या है और नवीनता अथवा मौलिकता क्या है? वाल्मीकि आदि ऋषि कवियों के राम और उनके पूर्वजों के चरित्र

---

१. शिशुपाल ४.१७।   २. रघुवंश १.४।

रूपी मणियों का प्राचीन इतिहास-पुराण आदि की खान से निराला—यह कार्य अपने युग का अभूतपूर्व किं वा सर्वथा नया कार्य था। इन ऋषि कवियों ने इन चरित्ररूपी मणियों को अपनी कवि प्रतिभा से संस्कृत किया। किन्तु 'रघुवंश' के रचयिता के पहले कोई ऐसा कवि नहीं हुआ जो इन चरित्र मणियों को एक सूत्र में गूंथ कर 'वाग्देवी का रत्नहार' बना सके। सबसे पहिले यह कार्य कालिदास ने ही किया। इसीलिए इस श्लोक में उन्होंने अपने विनय प्रकाशन के साथ साथ अपनी कृति की विशिष्टता अथवा नवीनता की रूपरेखा भी, अपनी स्वभाव सुलभ संकोचशीलता के साथ, प्रकाशित कर दी है।

'कुमारसम्भव' का प्रथम श्लोक ही एक नवीन काव्य सृष्टि और एक नवीन कवि दृष्टि का प्रमाण है। कुमारसम्भव के पहले संस्कृत के प्राचीन काव्य साहित्य में 'हिमालय' का रूप कुछ और है और कुमारसम्भव के इस मंगल श्लोक में हिमालय का रूप कुछ और ही दिखाई देता है। ब्रह्माण्ड-पुराण में हिमालय का दर्शन कीजिये[1]—

कैलासो हिमवांश्चैव दक्षिणे वर्षपर्वतौ।
पूर्वपश्चायतावेतावर्णवान्तर्व्यवस्थितौ ॥

यहां हिमालय भारत के पर्वतराज की पार्थिव सत्ता के रूप में दिखाई देता है किन्तु कालिदास, अपनी काव्य प्रतिभा के बल पर हिमालय में एक दिव्य आत्मस्वरूप का दर्शन कर लेते हैं और इस पर, एक अति रमणीय अथवा सर्वथा नवीन काव्य की सृष्टि कर देते हैं। हिमालय पर रचे कालिदास के श्लोक एक सुन्दर लघु काव्य के रूप में भी देखे जा सकते हैं जिनकी प्रस्तावना में, यह निम्नलिखित श्लोक, अपनी और उनकी भी, नयी सत्ता को सूचित कर देता है[2]—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥

मेघदूत में भी कालिदास ने अपनी मौलिक उद्भावना की सूक्ष्म अभिव्यञ्जना निम्नलिखित श्लोक में कर दी है[3]—

धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।

---

१. ब्रह्माण्डपुराण। २. कुमारसम्भव १.१।
३. मेघदूत, पूर्वमेघ ५।

इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥

सम्भवतः कालिदास से पहले किसी कवि ने सन्देश काव्य की रचना नहीं की थी। विरह निवेदन के लिए, कालिदास के पहले वस्तुतः किसी कवि ने 'मेघ' को नहीं सोचा था। संस्कृत काव्य साहित्य में 'मेघ' शृंगार के उद्दीपन विभाव के रूप में तो अवश्य वर्णित है किन्तु प्रेमार्जन के परम विश्वस्त आत्मीय के रूप में उसका नया काव्यात्मक शरीर संस्थान कालिदास की मौलिक कवि कल्पना से ही गढ़ा गया।

काव्य जगत् में कवि की नयी सृष्टि यों ही नहीं हो जाती है। उसका कुछ कारण भी होता है। और वह कारण कवि की 'कामार्ति' है। कवि और कामी दोनों एक प्रकार के जीव होते हैं। दोनों में एक ही शक्ति होती है जो कामना अथवा संकल्प की शक्ति है। कवि और कामी दोनों नवीनता अथवा रमणीयता के लोभी होते हैं। कालिदास में नवीनता की प्रबल कामना ने ही मेघदूत रचा जिसमें उनकी 'कामार्ति' एक शाश्वत सत्ता के रूप में सर्वत्र व्याप्त झलकती रहती है।

ऋतुसंहार कालिदास की पहली कृति के रूप में प्रसिद्ध है। इस पहली कृति की कल्पना और सफल योजना में कालिदास की मौलिकता स्पष्ट झलकती है। मौलिकता क्या है? इसकी परिभाषा करने के बदले, कालिदास ने काव्य में 'मौलिकता' के निदर्शन के लिए 'ऋतुसंहार' की रचना कर दी। अपने पूर्ववर्ती काव्य साहित्य में 'ऋतुवर्णन' का जो रूप था उसमें कालिदास को तृप्ति नहीं मिल सकी। उन्होंने सभी ऋतुओं के वैयक्तिक और सामूहिक रूप को अपनी प्रतिभा के प्रकाश में देखा और संस्कृत काव्य-रचना में नयी प्रवृत्ति को जन्म दे दिया।

अपने श्रव्य काव्यों की अपेक्षा कालिदास ने, अपने दृश्य काव्यों में अपनी 'कृति' की नवीनता अथवा मौलिकता का संकेत अथवा उल्लेख स्पष्ट रूप से किया है। 'मालविकाग्निमित्र' की प्रस्तावना देखिये। वहाँ वे अपने को 'वर्तमान कवि' कहते हैं और अपनी कृति को 'नव' काव्य के रूप में सूचित करते हैं[1]—

पारिपार्श्विकः—मा तावत्। प्रथितयशसां धावकसौमिल्लकादिकविरत्नानां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः।

सूत्रधारः—अये विवेकश्रान्तमभिहितम्। पश्य—

---

१. मालविकाग्निमित्र १.९।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥

विक्रमोर्वशीय के आमुख में भी कालिदास ने अपनी कृति को अपूर्व नाटक कृति के रूप में निर्दिष्ट किया है[1]—

सूत्रधारः—मारिष ! बहुशस्तु परिषदा पूर्वेषां कवीनां दृष्टः प्रयोगबन्धः । सोहमद्य विक्रमोर्वशीयं नामापूर्वं नाटकं प्रयोक्ष्ये । तदुच्यतां पात्रवर्गः स्वेषु स्वेषु पाठेष्वसंमूढैर्भवितव्यम् ।

'विक्रमोर्वशीय' को आज भी कालिदास की एक अपूर्व नाट्यकृति माना जाता है। इसकी रचना के पूर्वरूप का आजतक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ ।

इसी भांति 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की प्रस्तावना देखिये । वहाँ भी कालिदास ने अपनी रचना को 'नव' शब्द के ही विशेषण से विशिष्ट दिखाया है[2]—

सूत्रधारः—आर्ये ! अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम् : अथ खलु कालिदास-ग्रथितवस्तुनाभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः ।

'अभिज्ञानशाकुन्तल' की मौलिकता में किसे सन्देह हो सकता है ? कालिदास की यह कृति कुछ ऐसी मौलिक बनी कि आजतक इसका कोई अनुहरण अथवा अनुकरण सफल नहीं होने पाया ।

भारवि काव्य में काव्यविषयक नवीनता का निर्देश

महाकवि भारवि ने स्पष्ट शब्दों में किरातार्जुनीय को अपनी नयी कृति के रूप में निर्दिष्ट नहीं किया है किन्तु भिन्न-भिन्न प्रसंगों में काव्यगत विशेषताओं के सम्बन्ध में उनके जो उल्लेख हैं उनपर ध्यान देने से यह पता चल जाता है कि उनकी दृष्टि में 'नयी काव्य कृति' कैसी हो सकती है। किरात काव्य की निम्नलिखित सूक्तियाँ देखिये[3]—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम् ।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ॥
उपपत्तिरुदाहृता बलादनुमानेन न चागमः क्षतः ।
इदमीदृगनीदृगाशयः प्रसभं वक्तुमुपक्रमेत कः ॥

इन सूक्तियों में भारवि ने जहाँ प्रासंगिक वस्तु का वर्णन किया है वहां

---

१. विक्रमोर्वशीय, आमुख । २. अभिज्ञानशाकुन्तल : प्रस्तावना ।
३. किरातार्जुनीय २.२७,२८ ।

काव्य रचना के सम्बन्ध में अपने अभिप्राय भी, सूक्ष्म रूप से अभिव्यक्त कर दिये हैं। यहां भारवि की निम्नलिखित काव्यविषयक धारणायें प्रकाशित हो रही हैं—

१—प्रतिपाद्य अर्थ के सम्बन्ध में कवि की अपनी दृढ़ आस्था तथा अपने मनन चिन्तन में उस अर्थ का सम्यक् पर्यालोचन।

२—प्राचीन उल्लेखों के संरक्षण के साथ-साथ नवीन योजना की उक्तियों का पूर्ण ज्ञान।

३—ऐसी पद पदार्थ योजना जिसमें पुनरुक्तता न आ सके।

४—वृत्त, चरित अथवा रसभाव की संश्लिष्ट योजना जिसमें सभी परस्पर उपकार्य उपस्कारक भाव में बँधे प्रतीत हों।

५—अर्थ वैशद्य की दृष्टि से ऐसी पदसंघटना जिसमें क्लेश-योजना न दिखाई दे।

६—नयी काव्यार्थ सम्पत्ति जो कवि के अधिकार में हो और जिसे वह पाठक को स्वतन्त्र रूप से दे सके।

भारवि का यही आशय उनके निम्नोद्धृत श्लोकों में भी झलकता है[1]—

प्रसादरम्यमोजस्वि गरीयो लाघवान्वितम्।
साकांक्षमनुपस्कारं विष्वग्गति निराकुलम्॥
न्यायनिर्णीतसारत्वान्निरपेक्षमिवागमे।
अप्रकम्प्यतयाऽन्येषामाम्नायवचनोपमम्॥
अलंघ्यत्वाज्जनैरन्यैः क्षुभितोदन्वदूर्जितम्।
औदार्यादर्थसम्पत्तेः शान्तं चित्तमृषेरिव॥
इदमीदृग्गुणोपेतं लब्धावसरसाधनम्।
व्याकुर्यात्कः प्रियं वाक्यं यो वक्ता नेदृगाशयः॥

इन श्लोकों में भारवि ने एक प्रकार से अपने 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य की विशेषताओं का निर्देश कर दिया है। जिस रचना में यह विशेषताएँ हों वह रचना कवि की अपनी कृति होती है। किरातार्जुनीय की अर्थ सम्पत्ति से कौन प्रभावित नहीं। किरातार्जुनीय के अर्थान्तरन्यासों में, भले ही जहाँ तहाँ, प्राचीन कवियों की उक्तियों की छाया मिल जाये किन्तु किरातार्जुनीय की अर्थान्तरन्यास योजना मौलिक ही लगती है। वेद मन्त्र के समान किरात काव्य के जीवनोपयोगी अर्थान्तरन्यास 'अप्रकम्प्य' प्रतीत होते हैं। ऐसे अर्थों का उपन्यास जो अप्रकम्प्य हो और ऐसे शब्दों का विन्यास जो अपरिवर्तनीय हो

१. वही ११.३८-४१।

किसी काव्य रचना की प्रातिस्विक विशेषता अथवा मौलिकता का ही प्रकाशन करते हैं और किरातार्जुनीय ऐसी मौलिकता के एक नये दृष्टान्त के रूप में ही संस्कृत काव्य साहित्य के इतिहास में अपना स्थान रखता है।

महाकवि 'सुबन्धु' का काव्य में नवीनता के सम्बन्ध में उल्लेख

महाकवि सुबन्धु ने 'नयी रचना' की ही कामना से प्रेरित होकर 'वासवदत्ता' लिखी। आज 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' की तुलना में 'वासवदत्ता' भले ही अच्छी न लगे किन्तु जब यह लिखी गई होगी तब के संस्कृत पाठकों के लिए यह एक नयी काव्य सृष्टि का ही महत्व रखती होगी। सुबन्धु की निम्नलिखित उक्ति देखिये[1]—

सरस्वतीदत्तवरप्रसादश्चक्रे सुबन्धुः सुजनैकबन्धुः।
प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धविन्यासवैदग्ध्यनिधिर्निबन्धम्॥

इस उक्ति में सुबन्धु ने अपनी कवित्व कला को साक्षात् सरस्वती का कृपा प्रसाद प्रतिपादित किया है। जिसे कविप्रतिभा कहते हैं वह सरस्वती की कृपा का ही नामान्तर है। अपनी प्रतिभा के उल्लेख के साथ-साथ सुबन्धु ने प्रत्येक अक्षर में श्लेष विधान की अपनी विदग्धता का भी निर्देश किया है जिसमें उनकी कृति की 'नवीनता' का ही कारण प्रतिपादित है।

महाकवि बाण की 'मौलिकता' विषयक चर्चा

बाण ने अपनी 'कादम्बरी' तथा 'हर्षचरित' दोनों को मौलिक रचना कहा है। 'कादम्बरी' के आरम्भ की निम्नलिखित सूक्ति देखिये[2]—

हरन्ति कं नोज्ज्वलदीपकोपमैर्नवैः पदार्थैरुपपादिताः कथाः।
निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयो महास्रजश्चम्पककुड्मलैरिव॥

इस सूक्ति में बाण की 'मौलिकता' की निम्नलिखित विशेषताओं का संकेत है—

१. अलंकार योजना में नवीनता।
२. पदार्थ स्वभाव के निरीक्षण में नई दृष्टि।
३. कथा वृत्त के विस्तार के निमित्त अभिनव पदार्थों की समञ्जस योजना।
४. शब्द और शब्द तथा अर्थ और अर्थ के संश्लेषण सौन्दर्य की नई सृष्टि।

निम्नलिखित सूक्ति में यही अभिप्राय दूसरे ढंग से निरूपित है[3]—

---

१. वासवदत्ता आरम्भश्लोक १३। २. कादम्बरी आरम्भश्लोक १९।
३. वही ८।

स्फुरत्कलालापविलासकोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम् ।
रसेन शय्यां स्वयमप्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव ॥

इस सूक्ति में बाण ने अपनी नवीन कृति की दो विशेषतायें बतलाई हैं जिनमें पहली विशेषता तो 'रसभाव की योजना में नयी उद्भावना' है और दूसरी विशेषता 'रस भाव के अनुरूप शब्दार्थ विन्यास में नवीनता' है। विस्तार और संक्षेप से, बाण ने अपनी कथाकृति की मौलिकता की समीक्षा की ओर सहृदयों का ध्यान आकर्षित करके अपनी यही बलवती आशा अभिव्यक्त की है कि 'कादम्बरी एक अतिद्वयी कथा' अथवा नयी कथा के रिक्त स्थान की पूर्ति करेगी। बाण की यह अभिलाषा अथवा महत्वाकांक्षा बाण की अद्भुत सफलता के रूप में परिणत हुई है, यह बात सस्कृत काव्य साहित्य के इतिहास से ही सिद्ध है।

बाण का यह निम्नोद्धृत श्लोक उनके 'हर्षचरित' को भी एक नयी कृति के रूप में ही निर्मित, प्रतिपादित करता है[1]—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषः क्लिष्टः स्फुटो रसः ।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥

इस श्लोक में काव्यगत जिन जिन विशेषताओं का परिगणन किया गया है, जिन्हें किसी एक काव्य कृति में देखना असम्भव कहा गया है, उनका 'हर्षचरित' में एकत्र समन्वय बाण की मौलिकता का ही प्रकाशन है न कि किसी प्राचीन कृति के अनुकरण में उनकी कला कुशलता का। नए नए काव्यार्थों की कल्पना नए नए ढंग से वस्तु स्वभाव की उक्ति, श्लेष योजना में नवीन दृष्टि, रसभाव की परिस्फुट अभिव्यञ्जना की नई दिशा तथा काव्यबन्ध की नयी गाढ़ता अथवा ओजस्विता ये सभी बातें 'हर्षचरित' की अपूर्व रचना को सहृदयों के समक्ष प्रमाणित कर देती हैं।

महाकवि माघ और काव्यगत नवीनता

भारवि के अनुयायी महाकवि माघ ने भी अपने 'शिशुपाल वध' महाकाव्य में यथास्थान, ऐसे निर्देश दिये हैं जिनमें काव्यगत नवीनता के सम्बन्ध में उनके विचार पता चल जाते हैं। उदाहरण के लिए उनका निम्नलिखित श्लोक देखिये[2]—

वर्णैः कतिपयैरेव ग्रथितस्य स्वरैरिव ।
अनन्ता वाङ्मयस्याहो गेयस्येव विचित्रता ॥

---

१. हर्षचरित आरम्भश्लोक ९ । २. शिशुपालवध २.७२ ।

यहां महाकवि माघ ने काव्य और संगीत की विचित्रता की अनन्तरूपता का संकेत किया है। जैसे संगीत की विचित्रता की अनन्तरूपता में संगीतकार की प्रतिभा और उसकी प्रतिभा के उन्मेष में, उसकी स्वर योजना की वैयक्तिक विशेषता को ही कारण माना जा सकता है वैसे ही काव्य की अनन्त प्रकार की विचित्रता के मूल में कवि की प्रतिभा और उसकी अपनी कवित्व कला का ही हाथ देखा जा सकता है। माघ काव्य के संबंध में एक पुरानी उक्ति है--'नव-सर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते' जिसका अभिप्राय यह है कि शिशुपालवध के नव सर्ग ऐसे निराले हैं कि जिनमें नए नए शब्दों का ऐसा दर्शन होता है जो आगे के सर्गों मे नहीं होता। नए-नए शब्दों की योजना में, काव्य के सौन्दर्य को सुरक्षित तथा सुव्यवस्थित रखना सरल कार्य नहीं अपितु एक दुष्कर कार्य है। इस दुष्कर कार्य में माघ की सफलता के सम्बन्ध में किसे आपत्ति हो सकती है। संगीतकार भी अपनी नवीनता अथवा मौलिकता के प्रदर्शन के लिए नई नई स्वर योजनाओं का ही प्रदर्शन किया करते हैं। माघ की सृष्टि में काव्यकार की मौलिकता संगीत-कार की मौलिकता के रूप में दिखाई देती है।

महाकवि भवभूति के अनुसार काव्य में नवीनता अथवा मौलिकता

भवभूति को कालिदास के समकक्ष माना जाता है और ऐसा माना जाना सर्वथा उचित है। भवभूति की नाटक कृतियां कालिदास के नाटकों की तुलना में 'अनुकरण' नहीं प्रतीत होतीं अपितु मौलिक ही सिद्ध होती हैं। भवभूति का 'मालतीमाधव' देखिये जिसकी प्रस्तावना में उन्होंने अपनी कृति को, अपूर्व कहा है[1]—

सूत्रधारः—आदिष्टोऽस्मि विद्वत्परिषदा यथा—अथ त्वया पूर्ववस्तुप्रयोगेण वयं विनोदयितव्या इति। तत्परिषदं निर्दिष्टगुणप्रबन्धेनोपतिष्ठावः।

नटः—भाव ! कतमे ते गुणा यानुदाहरन्त्यार्यमिश्रा भगवन्तो भूमिदेवाः।

सूत्रधारः—भूम्ना रसानां गहनाः प्रयोगाः सौहार्द्रहृद्यानि विचेष्टितानि।
औद्धत्यमायोजितकामसूत्रं चित्राः कथा वाचि विदग्धता च॥

नटः—भाव ! कस्मिन् प्रकरणे।

सूत्रधारः—स्मृतम्।………पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम कवि……… स्वकृतिमेवंगुणभूयसीमस्माकं हस्ते समर्पितवान्।

---

१. मालती माधव : प्रस्तावना।

भवभूति के उपर्युक्त उल्लेख में, काव्यगत नवीनता के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार प्रकाशित हो रहे हैं—

१—अङ्गी रसभाव की योजना में विदग्धता।

२—चरितचित्रण में स्वाभाविकता।

३—अङ्गभूत रसों के प्रौढ़ प्रकाशन के द्वारा मुख्य रस के प्रकाशन का सामर्थ्य।

४—इतिवृत्त कल्पना की नवीनता।

५—उक्ति विचित्रता।

मालतीमाधव का स्वतन्त्र अस्तित्व, वस्तुतः उसमें भवभूति के इन विचारों के व्यवहाररूप में प्रदर्शन के ही कारण है। पदवाक्यप्रमाणज्ञ व्यक्ति भी महाकवि हो सकता है यह एक नयी बात है। किन्तु भवभूति इस नयी बात के ही उदाहरण रूप में, संस्कृत काव्य पाठकों के लिए एक महान् आकर्षण बने हुए हैं।

महाकवि विशाखदत्त में मौलिक कृति की भावना

मुद्राराक्षस के निर्माता महाकवि विशाखदत्त ने अपने नाटक को 'अभिनव' नाटक कहा है।[१]

सूत्रधारः—आज्ञापितोस्मि परिषदा यथाद्य······कवेर्विशाखदत्तस्य कृतिरभिनवं मुद्राराक्षसं नाम नाटकं परिषदि प्रयुञ्जानस्य ममापि चेतसि सुमहान् परितोषः प्रादुर्भवति।

साथ ही साथ 'अभिनव' नाटक के निर्माण और सफलतापूर्वक राजनीति प्रयोग को एक दुष्कर कार्य के रूप में प्रतिपादित किया है—

कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयंस्तस्य विस्तारमिच्छ-
न्बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च।
कुर्वन्बुद्ध्या विमर्शं प्रसृतमपि पुनः संहरन्कार्यजातं
कर्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा॥

इन दोनों उद्धरणों में पहली बात जो स्पष्ट होती है वह यह है कि 'नवीनता' और 'विशेषता' में परस्पर प्रगाढ़ सम्बन्ध है और दूसरी बात यह है कि नवीन काव्य अथवा नाट्य की रचना में पग-पग पर कवि समाधि अपेक्षित है जिसके बिना मौलिक काव्य अथवा नाट्य प्रबन्ध का निर्माण सम्भव नहीं। मुक्तक का बन्ध क्लेश साध्य नहीं। काव्य प्रबन्ध अथवा नाट्य प्रबन्ध क्लेश-

---

१. मुद्राराक्षस, प्रस्तावना।

साध्य होते हैं क्योंकि जब तक इनमें कोई अभिनव चमत्कार न हो तब तक इनका अस्तित्व ही सन्देह का विषय हुआ करता है। 'मुद्राराक्षस' से संस्कृत के प्रेमी परिचित हैं और उनका यह अपना अनुभव है कि विशाखदत्त की यह कृति एक मौलिक कृति है।

महाकवि प्रवरसेन (छठी शताब्दी) की दृष्टि में काव्यगत मौलिकता

प्राकृत के प्रसिद्ध महाकाव्य 'सेतुबन्ध' के रचयिता प्रवरसेन की निम्नलिखित सूक्ति देखिये[1]—

इच्छाइ व घणरिद्धी जोव्वणलद्धव्व आहि आईअ सिरी।
दुःखं संभाविज्जइ बन्धच्छाआइ अहिणवा अत्थगई॥
(इच्छयेव घनऋद्धिर्यौवनलब्धेवाभिजात्या श्रीः।
दुःखं संभाव्यते बन्ध-च्छाययाभिनवार्थगतिः॥)

इसमें मौलिक अथवा अभिनव काव्य की रचना को एक दुष्कर, असाधारण कार्य के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। केवल बन्धच्छाया में ही मौलिक काव्य प्रबन्ध का सौन्दर्य नहीं रहता। जैसे केवल अभिलाषा से धनसम्पत्ति नहीं प्राप्त हो जाती है अथवा केवल कुलीनता से यौवन की शोभा नहीं निखरने लगती, वैसे ही केवल बन्धच्छाया से अभिनव काव्यार्थ की सृष्टि नहीं हो सकती। अभिनव काव्यार्थ की सृष्टि के लिए कवि की प्रतिभा और उसके अध्यवसाय दोनों की अपेक्षा है। इन दोनों के बल पर ही किसी नए काव्य प्रबन्ध के निर्माण में कोई कवि, किसी प्रकार सफल परिश्रम हो सकता है।[2]

अहिणवराआरद्धा चुक्कक्खलिएसु विहडिअपरिट्ठविआ।
मेत्तिव्व पमुहरसिआ णिव्वोढुं होइ दुक्करं कव्वकहा॥
(अभिनवरागा(राजा)रब्धा च्युतस्खलितेषु विघटितपरिस्थापिता।
मैत्रीव प्रमुखरसिका निर्वोढुं भवति दुष्करं काव्यकथा॥)

अर्थात् किसी भी मौलिक काव्य रचना का प्रारम्भ से अन्त तक निर्वाह कर देना बड़ा कठिन कार्य होता है। प्रतिभा के उल्लेख में कवि नई रचना में उद्यत तो हो जाता है किन्तु उसका यह उद्योग आरम्भ में भले ही उसे सुखद प्रतीत हो, अन्त तक पहुँचते-पहुँचते बड़ा दुःखद हो जाता है। किन्तु अध्यवसायशील कवि इस कार्य को भी सम्पन्न कर सकते हैं।

---

१. सेतुबन्ध आश्वास १.११। २. सेतुबन्ध प्रथम आश्वास ९।

काश्मीरिक कवि सोमदेव (१०६३–१०८१ ई०) और काव्य-रचना में मौलिकता

कथासरित्सागर के कवि सोमदेव ने अपनी कृति के सम्बन्ध में यह उल्लेख किया है[१]—

यथामूलं तथैवैतन्न मनागप्यतिक्रमः।
ग्रन्थविस्तरसंक्षेपमात्रं भाषा च भिद्यते॥
औचित्यान्वयरक्षा च यथाशक्ति विधीयते।
कथारसाविघातेन काव्यांशस्य च योजना॥
वैदग्ध्यख्यातिलोभाय मम नैवायमुद्यमः।
किं तु नानाकथाजालस्मृतिसौकर्यसिद्धये॥

इस 'कथासाहित्य सागर' में क्या 'प्राचीन' है और क्या नवीन है दोनों का निर्देश स्पष्ट है और साथ ही साथ यह भी प्रतिपादित है कि प्राचीन काव्य कृतियों के सार संक्षेप में भी कवि अपनी मौलिकता का प्रकाशन कर सकता है। कथा सरित्सागर का 'मूल' महाकवि गुणाढय की बृहत्कथा है जिसका आकार प्रकार अति अधिक बृहद् था तथा जिसकी भाषा पैशाची प्राकृत थी। किन्तु सोमदेव ने इसके सार संक्षेप और रूपान्तरण में निम्नलिखित दृष्टि अपनाई है—

१—बृहत्कथा के वृत्त चरित की सुरक्षा के साथ-साथ, रस भाव की नयी योजना।

२—बृहत्कथा के रस भाव के संरक्षण के लिए उक्तिवक्रता की योजना में औचित्य का पालन।

सोमदेव ने प्राचीन काव्य के रूपान्तरण में भी, अपनी ऊपर निर्दिष्ट मौलिक कवित्व शक्ति का पूर्ण प्रकाशन किया है इस बात से संस्कृत के काव्य प्रेमी पूर्णतया सहमत हैं।

महाकवि बिल्हण के अनुसार काव्य रचना में मौलिकता की मात्रा

११वीं शताब्दी के कश्मीरी कवि बिल्हण का विक्रमांकदेवचरित एक ऐतिहासिक महाकाव्य के रूप में प्रसिद्ध है। महाकवि बिल्हण को अपनी काव्य

१. कथासरित्सागर १.१०-१२।

कृति में अपनी मौलिकता की मात्रा का पूर्ण अनुभव है। उनकी निम्नलिखित सूक्तियां इस अभिप्राय को स्पष्ट कर देती हैं[1]—

प्रौढिप्रकर्षेण पुराणरीतिर्व्यतिक्रमः श्लाघ्यतमः पदानाम्।
अत्युन्नतिस्फोटितकञ्चुकानि वन्द्यानि कान्ताकुचमण्डलानि ॥
उल्लेखलीलाघटनापटूनां सचेतसां वैकटिकोपमानाम्।
विचारशाणोपलपट्टिकासु मत्सूक्तिरत्नान्यतिथीभवन्तु ॥

विल्हण की दृष्टि से काव्य विषयक मौलिकता का दर्शन प्राचीन कवि परिपाटी से चली आती शब्दार्थसंघटना से विलक्षण शब्दार्थसंघटना में किया जाना चाहिये। प्राचीन काव्य शैली से विलक्षण काव्य शैली का विकास यों ही नहीं हो जाया करता है अपितु रचनाकार के अभिनव प्रतिभान तथा अभिनव अर्थ के उल्लेख की अपेक्षा करता है।

विल्हण की निम्नलिखित उक्ति देखिये[2]—

रसध्वनेरध्वनि ये चरन्ति संक्रान्तवक्रोक्तिरहस्यमुद्राः।
तेऽस्मत्प्रबन्धानवधारयन्तु कुर्वन्तु शेषाः शुकवाक्यपाठम् ॥

इसमें विल्हण ने अपने काव्य विक्रमांकदेवचरित की मौलिकता का स्पष्ट संकेत किया है। रस ध्वनि और वक्रोक्ति का रहस्यवेदी कवि ही ऐसे काव्य की रचना कर सकता है जो अपनी मौलिकता से सहृदयों को प्रभावित कर सकती है।

सोमदेव कवि (यशस्तिलकचम्पूकार) और काव्य में नवीनता

यशस्तिलकचम्पू के रचयिता सोमदेवसूरि अपने युग के प्रसिद्ध कवियों में से एक हैं। सोमदेव कवि ने काव्य में प्राचीनता और नवीनता का पर्याप्त विश्लेषण किया है। प्राचीन कवियों की प्रतिभा दृष्टि ने सब कुछ देख रक्खा है, नवीन कवि के लिए कोई नयी वस्तु नहीं बची है जिसे वह अपनी प्रतिभा दृष्टि से देख सके और दूसरों को दिखा सके। किन्तु तब भी कुछ नये कवि प्राचीन कवियों के समान रम्य काव्य निर्माण कर लेते हैं जो कि एक आश्चर्य की बात है। यह अभिप्राय 'यशस्तिलक' की निम्नलिखित सूक्ति में प्रकाशित है[3]—

सर्वज्ञकल्पे कविभिः पुरातनैरवीक्षितं वस्तु किमस्ति सम्प्रति।

---

१. विक्रमांकदेवचरित १.१५ तथा १९।   २. वही १.२२।

३. यशस्तिलक : आश्वास १.११।

यहां 'मौलिकता' काल सम्बन्धी सुदूरता और समीपता के बन्धनों से उन्मुक्त बताई गई है। प्राचीन काव्य कृतियों के रहते हुए भी, जिस नये कवि में प्रतिभा हो तो उसकी काव्य रचना मौलिक ही होती है।

यशस्तिलक का निम्नोधृत श्लोक देखिये जिसमें एक प्रतिभाशील नये कवि की विशेषता के सम्बन्ध में उल्लेख है[1]--

कृतीः परेषामविलोकमानस्तदुक्तिवक्ताऽपि कविर्न हीनः।

कृतेक्षणो राजपथेन सम्यक् प्रयानिव प्रत्युत विस्मयाय॥

अर्थात् मौलिक अथवा नवीन काव्य रचना का निदान एकमात्र कवि प्रतिभा है क्योंकि ऐसे भी नए कवि हो चुके हैं जो किसी प्राचीन काव्यकार की कृति से सर्वथा अपरिचित होने पर भी ऐसी रचना कर चुके हैं जिसे सर्वथा प्राचीन काव्य की तुलना में रखा जा सकता है। काव्य का मार्ग एक राजमार्ग है जिस पर चलने के लिए खुली दृष्टि की आवश्यकता होती है न कि किसी आगे आगे चलने वाले की।

सोमदेव ने अपने चम्पूकाव्य 'यशस्तिलक' को 'नयी कृति' कहा है[2]--

असहायमनादर्शं रत्नं रत्नाकरादिव।

मत्तः काव्यमिदं जातं सतां हृदयमण्डनम्॥

अर्थात् जैसे रत्नाकर से 'असहाय' (अद्वितीय) तथा अनादर्श (प्रति बिशिष्ट अथवा सर्वथा नवीन) रत्न का प्रादुर्भाव हुआ करता है वैसे ही मेरे द्वारा यह चम्पूकाव्य भी प्रादुर्भूत हुआ है जिसका समस्पर्धी अन्यत्र नहीं दिखाई देता है और न जिसे किसी आदर्श अथवा पूर्वकविकृत काव्य के अवलोकन के आधार पर रचित कहा जा सकता है।

काव्य की वैयक्तिक विशेषता के कारण का भी उल्लेख सोमदेव कवि की निम्नलिखित उक्तियों में किया हुआ है[3]--

वाच एव विशिष्टानामनन्यसमवृत्तयः।

स्वस्यातिशायिनं हेतुमाहुः कान्ता लता इव॥

वागर्थः कविसामर्थ्यं त्रयं तत्र द्वयं समम्।

सर्वेषामेव वक्तॄणां तृतीयं भिन्नशक्तिकम्॥

लोको युक्तिः कलाश्छन्दोलंकाराः समयागमाः।

सर्वसाधारणः सद्भिस्तीर्थमार्ग इव स्मृताः॥

---

१. यशस्तिलक : आश्वास १.१२। २. वही १.१४।

३. यशस्तिलक : आश्वास १.१२।

यहां काव्यगत 'नवीनता' अथवा 'मौलिकता' को कविजन की सामान्य काव्यात्मक सम्पत्ति से निष्पन्न किन्तु विलक्षण वस्तु के रूप में प्रतिपादित किया गया है। जैसे प्रौढ़ अथवा सुन्दर शाखा प्रशाखाओं को देखकर उनके कारणरूप से अवस्थित किसी प्रौढ़ अथवा मनोहर वृक्षविशेष का अनुमान स्वभावतः हो जाता है वैसे ही किसी काव्य बन्ध की असाधारण विशेषता को देखकर उसके रचयिता की मौलिक कवित्व शक्ति का भी अनुमान स्वाभाविक ही है। शब्द और अर्थ तो सभी कवियों की साधारण अथवा सामाजिक सम्पत्ति है इसे कोई भी कवि अपनी संपत्ति नहीं बना सकता। किन्तु प्रतिभा सामर्थ्य अथवा कवित्व सामर्थ्य कवि की अपनी वैयक्तिक संपत्ति हैं। इसी के कारण सर्वसाधारण काव्य संपत्ति के उपयोग में भी, कोई कवि अपनी मौलिकता से काव्य प्रेमियों को चमत्कृत कर देता है।

निम्नलिखित सूक्ति में सोमदेवसूरि ने काव्यगत मौलिकता के स्वरूप का निरूपण किया है[1]—

त एव कवयो लोके येषां वचनगोचरः।
सपूर्वी पूर्वतामर्थो यात्यपूर्वः सपूर्वताम्॥

अर्थात् संसार में उन्हीं लोगों को कवि कहा जाया करता है जिनकी वाणी लोक-प्रसिद्ध है अथवा लोकप्रतीत विषयों को भी अपने वर्णन में अपूर्व बना देती है तथा लोक में अपूर्व अथवा अप्रसिद्ध भी अर्थ को एक चमत्कार पूर्ण अस्तित्व में प्रकाशित कर देती है।

विश्वनाथ कविराज के अनुसार नवीन काव्य रचना

१४ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध आलंकारिक विश्वनाथ कविराज ने साहित्य दर्पण के साथ साथ काव्य-रचना भी की है। अपनी कृति 'मृगांकलेखा' की प्रस्तावना में उनका यह उल्लेख है[2]—

सूत्रधारः—तद् यावद् गृहमेव गत्वा रमणीमाहूय कस्यापि शृंगाराद्भुत-प्रायस्य प्रबन्धस्याभिनयाय सज्जीकरिष्यामि सकलमेव कुशीलवजनम्।

जिसका अभिप्राय यह है कि 'मृगांकलेखा' में शृंगार की योजना एक विचित्रता के साथ की गई है जिसके कारण अन्य नाट्य प्रबन्धों से इसे एक नए नाट्य प्रबन्ध के रूप में देखा जाना चाहिए।

विश्वनाथ को 'कविराज' कहा जाता है। विश्वनाथ कविराज के समय से बहुत पहले कवियों की एक श्रेणी ऐसी भी बन चुकी थी जिसमें स्थान पाने वाले लोग अन्य काव्यकारों की अपेक्षा कुछ नयी विशेषता रखा करते थे।

---

१. यशस्तिलक : आश्वास १.२५।   २. मृगांकलेखा १.६।

भोजराज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में कविराज की निम्नलिखित विशेषता प्रतिपादित है[१]—

> गिरः श्रव्या दिव्याः प्रकृतमधुराः प्राकृतधुराः
> सुभव्योऽपभ्रंशः सरसरचनं भूतवचनम् ।
> विदग्धानामिष्टे मगधमथुरावासिभणिति-
> र्निबद्धा यस्तेषां स इह कविराजो विजयते ॥

अर्थात् 'कविराज' वह है जो कि संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत, अपभ्रंश-पैशाची, शौरसेनी और मागधी आदि में भी काव्य-रचना करने में परम प्रवीण हुआ करता है। प्राचीन अथवा समकालीन कवियों में एक विशिष्ट स्थान पाने के लिए ही कविजन अपनी कवि-प्रतिभा के प्रसार के लिए संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में काव्य रचा करते थे। इसमें भी मौलिकता के प्रदर्शन के एक प्रकार की ही सूचना मिलती है। यह दूसरी बात है कि ऐसी 'मौलिकता' बहुत अधिक महत्त्व न रखती हो। किन्तु इतना निश्चित है कि संस्कृत के काव्यकारों में मौलिकता के प्रदर्शन के लिए पर्याप्त महत्त्वाकांक्षा और अध्यवसायशीलता रहती आई है और इस दृष्टि से काव्य के नए-नए क्षेत्र और उनकी श्रीवृद्धि के नए उपाय उपयोग में लाए जाते रहे हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ की काव्य में मौलिकता की दृष्टि

संस्कृत के कवियों और काव्यालोचकों में रसगंगाधर के रचयिता पण्डितराज जगन्नाथ १६ वीं शताब्दी का एक अपना ही स्थान और महत्त्व है। पण्डितराज जगन्नाथ प्राचीन काव्य-साहित्य के परममर्मज्ञ कवियों में से एक हैं। पण्डितराज जगन्नाथ पर कई एक प्राचीन कवियों का प्रभाव परिलक्षित होता है जो एक पृथक् अध्याय का ही विषय है। किन्तु तब भी इन्होंने अपनी रचनाओं में 'नवीन रचना' के आनन्द का अनुभव किया है और अपनी रचनाओं की विशेषताओं में 'सङ्गीतात्मक पदमाधुरी' की विशेषता का स्पष्ट उल्लेख किया है[२]—

> आमूलाद्रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात् पयोधे-
> र्यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु ।
> मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां
> वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः ॥

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण २.१६।

२. भामिनीविलास : शान्तविलास : २६।

इसमें पण्डितराज का आत्माभिमान ही नहीं झलकता अपितु उनकी काव्य-रचना की एक असाधारण विशेषता की भी अभिव्यक्ति हो जाती है। पण्डितराज की निम्नलिखित उक्ति पर भी ध्यान दीजिये[१]—

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
काव्यं मयाऽत्र निहितं न परस्य किंचित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ॥

यहाँ पण्डितराज ने भिन्न-भिन्न अलंकारों के उदाहरण रूप से रचित अपनी सूक्तियों को 'नयी काव्यकृति' के रूप में देखा है और सहृदयों को भी इन्हें इसी रूप में दिखाया है। पण्डितराज की सूक्तियों के भाव भले ही अन्य कवि रचित काव्यों में मिल जायें, परन्तु पण्डितराज की पद-रचना-चातुरी को मौलिक ही माना जायेगा।

संस्कृत काव्य-साहित्य के इतिहास में जो भी कवि अपना स्थान बना चुके हैं उनके हृदय में वस्तुतः नई काव्य-रचना की ही अभिलाषा दिखाई देती है। किसी न किसी प्रकार से अपनी कृतियों में कुछ नवीनता के प्रकाशन के प्रति संस्कृत कवियों की अभिरुचि रहती आई है। मौलिक काव्य-रचना की उनकी यह अभिलाषा कहाँ तक सफल हो सकी यह एक दूसरा प्रश्न है और इसके उत्तर की भी यहाँ अपेक्षा नहीं। यहाँ हमारा उद्देश्य 'स्थाली-पुलाकन्याय' से, संस्कृत के काव्यकारों में 'नवीन रचना' की दृष्टि और नवीन-रचना की प्रकृति' का उल्लेख मात्र है।



१. रसगंगाधर १.६।

प्राग्ध्वनिकालीन संस्कृत काव्यशास्त्र में 'अनुहरण' की प्रवृत्ति के संकेत

संस्कृत काव्य में 'अनुहरण' पर, ध्वनिवाद ने जितना प्रकाश डाला है उतना प्रकाश ध्वनिवाद के पूर्ववर्ती संस्कृत काव्यशास्त्र द्वारा उस पर नहीं डाला गया। किन्तु 'मौलिकता' के साथ साथ 'अनुहरण' के सम्बन्ध में भी भामह, दण्डी और उद्भट आदि की काव्यसमीक्षाओं में कुछ स्पष्ट संकेत अवश्य मिलते हैं और इनके अनुशीलन से 'काव्य में अनुहरण' के प्राचीन सिद्धान्त का कुछ परिचय अवश्य मिल जाता है।

अनुहरण के सम्बन्ध में भामह के निर्देश

अलंकारशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्यों में सर्वप्रथम आचार्य भामह ने अपने 'काव्यालंकार' में काव्यगत मौलिकता का निर्देश करते हुए काव्यगत अनुहरण का भी निर्देश किया है। भामह की उक्ति निम्नलिखित है[1]—

मुख्यस्तावदयं न्यायो यत्स्वशक्त्या प्रवर्तते।
अन्यसारस्वता नाम सन्त्यन्योक्तानुवादिनः॥

भामह ने यह निर्देश कविजनों को शब्दानुशासन शास्त्र के मनन, शुद्ध शब्द ज्ञान और शुद्ध शब्दों की काव्यात्मक योजना का उपदेश देते हुए किया है। जो कवि अपनी बुद्धि और अपने अध्यवसाय के बल पर व्याकरणशास्त्र प्रतिपादित शब्द साधुत्व का रहस्य हृदयंगम कर सकता है और अपनी प्रतिभा के द्वारा, अपनी काव्यरचनाओं में साधुशब्दों के प्रयोग में 'सौशब्द्य' और 'अर्थ-व्युत्पत्ति' की सृष्टि कर सकता है उसकी कविता उसकी 'अपनी रचना' होती है किन्तु जो लोग दूसरे दूसरे कवियों के प्रयोगों का आश्रय लेकर काव्य-रचना करते हैं उनकी रचना उनकी अपनी रचना नहीं होती क्योंकि वे 'स्वसारस्वत' नहीं अपितु 'अन्यसारस्वत' हुआ करते हैं। 'स्वसारस्वत' अथवा अपनी प्रतिभा के बल पर पदयोजना करने का प्रौढ़ सामर्थ्य रखनेवाले कवियों की कृतियों में ही वह विशेषता रह सकती है जिसे 'मौलिकता' के एक रूप विशेष में माना जा सकता है। संस्कृत काव्यों की उक्तियों के अनुवाद अथवा रूपान्तरण में जो काव्यरचना होगी उसके कारण, उसके रचयिता को अन्य सारस्वत अथवा अनुकर्तामात्र ही माना जायगा।

---

१. काव्यालंकार ६.६।

सभी नये नये कवि पुराने काव्यों के अनुशीलन में ही 'सिद्ध सारस्वत' बना करते हैं यह भी प्राचीन अलंकारवादी आचार्यों की ही मान्यता है। क्योंकि 'वाच्य' और वाचक का ऐसा कोई ज्ञान नहीं हो सकता जो 'स्वयं सिद्ध' माना जाये। पूर्वकविनिबद्ध 'वाच्यवाचक' परम्परा से परिचित हुए बिना शब्द और अर्थ का परिज्ञान किसो कवि के लिए सम्भव नहीं। भामह ने इसीलिए कहा है[1]—

के शब्दाः किं च तद्वाच्यमित्यहो वर्त्म दुस्तरम्।

अर्थात् शब्द और अर्थ के काव्यमार्गों का पार पाना असम्भव है। कोई भी कवि अपने प्राचीन अथवा समकालीन कवियों की चित्र विचित्र उक्तियों का मनोयोग से अवलोकन करके ही अपनी रचना में वाक् वक्रता की विशेषता का प्रदर्शन कर सकता है अन्यथा नहीं। इस दृष्टि से, यदि, हम भामह द्वारा प्रतिपादित 'सारस्वत' और 'अन्यसारस्वत' के भेद को देखें तो 'अनुहरण' अथवा 'ग्राह्य अनुकरण' और 'अनुकरण' अथवा 'त्याज्य अनुहरण' (वस्तुतः अनुवाद अथवा रूपान्तरण) का भेद स्पष्ट हो जाता है।

काव्यगत अभिधान अथवा शब्दयोजना बिना अनुहरण के कभी ठीक नहीं हो सकती। पुराने काव्यों के मनन चिन्तन में ही कोई नया कवि यह जान सकता है कि शब्द पुष्पों के चयन और गुम्फन की क्या कला होती है। और तभी वह अपनी कृति में अपनी पदयोजना का भी मार्ग निर्धारण कर सकता है। किसी अन्य कवि के काव्यप्रबन्ध को बिना देखे जो भी कवि अपनी काव्य रचना प्रारम्भ करेगा उसे सबसे पहले इसी बात का ज्ञान नहीं हो सकेगा कि काव्यात्मक पद-योजना कैसी होती है। काव्यात्मक पद-योजना के ही सम्बन्ध में भामह ने यह उल्लेख किया है[2]—

एतद्ग्राह्यं सुरभि कुसुमं ग्राम्यमेतन्निधेयं
धत्ते शोभां विरचितमिदं स्थानमस्यैतदस्य।
मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय मालां
योज्यं काव्येष्ववहितधिया तद्वदेवाभिधानम्॥

अर्थात् जैसा कार्य एक सुन्दर माला बनाने वाले माली का हुआ करता है वैसा ही कार्य एक सुन्दर काव्य रचने वाले का भी हुआ करता है। कोई भी मालाकार, जिसे किसी दूसरे मालाकार की मालारचना की कला का कुछ भी परिचय नहीं, अपनी मालारचना को दोषरहित नहीं बना सकता। इसी

---

१. वही ६.२०। २. वही १.५९।

प्रकार कोई भी कवि, जिसे किसी अन्य अनुकरणीय कवि की कृति से कोई परिचय नहीं अपनी काव्यकृति की निर्दुष्ट रचना कैसे कर सकता है। जो भी माली माला बनाता है वह पहले एकाग्रचित्त होकर, वन उपवन के सुन्दर फूलों का निरीक्षण और चयन करता है। जो भी कवि काव्य-रचना करता है, वह पहले एकाग्र चित्त होकर ही, अन्य कवियों के लगाये काव्योपवन के शब्द पुष्पों का निरीक्षण और चयन करता है। जैसे कि एक मालाकार की मौलिकता अन्य मालाकारों की माला-कला के अनुहरण में प्रस्फुटित होती हैं वैसे ही एक कवि की मौलिकता अन्य कवियों की काव्य-कला के अनुहरण में ही प्रस्फुटित हो सकती है।

भामह ने 'अयुक्तिमत्' पदपदार्थ योजना के सम्बन्ध में एक उल्लेख किया है जो निम्नोद्धृत है[1]—

अयुक्तिमद् यथा दत्ता जलभृन्मारुतेन्दवः।
तथा भ्रमरहारीतचक्रवाकशुकादयः॥
अवाचोऽव्यक्तवाचश्च दूरदेशविचारिणः।
कथं दूतं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते॥
यदि चोत्कण्ठया यत्तदुन्मत्त इव भाषते।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते॥

इस उल्लेख से 'काव्य में अनुहरण' पर विशेष प्रकाश पड़ता है। महाकवि कालिदास ने 'मेघदूत' (अथवा मेघसन्देश) की रचना की जिसमें उन्हें स्वयं यह अनुभव हुआ कि मेघ में दूत अथवा 'सन्देशवाहक' को उनकी रूप कल्पना आपाततः किसी को भी युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होती। तभी तो उन्होंने अपना यह अभिप्राय प्रकट किया[2]—

धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु॥

किन्तु चेतन और अचेतन में कामार्त प्राणी की एक भावनादृष्टि की प्रबल युक्ति के कारण 'मेघदूत' की रचना सर्वथा युक्तिमती बन गई। मेघदूत की

---

१. काव्यालंकार १.४२.४४।
२. मेघदूत (पूर्वमेघ) ५।

रचना से संस्कृत काव्यजगत् इतना प्रभावित हुआ कि अनेकों काव्यकार कालिदास की मौलिक भावना का हृदय से स्वागत ही नहीं करने लगे अपितु अपनी अपनी भावना के रूप में अपनाने लगे और अवाक् अथवा अव्यक्तवाक् पवन, इन्दु, भ्रमर आदि-आदि की दूत अथवा सन्देशवाहक रूप में परिकल्पना करने लगे। इन परिकल्पनाओं में कालिदास की-ही युक्ति अर्थात् 'कामार्त प्राणी की चेतन और अचेतन में अभेद-भावना' का सर्वत्र अनुहरण है और इस अनुहरण के ही कारण संस्कृत में मेघदूत के बाद अनेकों दूत-काव्यों की सृष्टि-परम्परा प्रवर्तित हुई।

भामह ने मेघदूत के रूप में कालिदास के 'प्रथम-दूत-काव्य-प्रयोग' का जो उल्लेख ऊपर उद्धृत काव्यालंकार की उक्ति में किया है और उसकी परम्परा के प्रचलन का जो संकेत किया है (भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते) उसमें 'काव्य में अनुहरण' के महत्व की भी सूक्ष्म रूप-रेखा प्रकाशित हो रही है। आज यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता है कि भामह के युग में कितने 'दूतकाव्य' प्रचलित थे और उनमें भी कितने आज उपलब्ध हैं? किन्तु कालिदास के मेघदूत के अतिरिक्त अन्य दूतकाव्यों से भी भामह का परिचय था यह तो भामह की उक्ति में ही स्पष्ट है। 'कामार्त प्राणी की सर्वत्र अभेद भावना' की कालिदास की उक्ति का भामह ने समर्थन किया है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि दूत-काव्य की रचना में, उन्होंने, समसामयिक अथवा आगे आने वाले कवियों के लिए कालिदास के अनुहरण का भी समर्थन किया है।

इसी भाँति यमक अलंकार के निरूपण प्रसंग में भामह की यह उक्ति देखिये[१]—

प्रतीतशब्दमोजस्वि सुश्लिष्टपदसन्धि च।
प्रसादि स्वभिधानञ्च यमकं कृतिनां मतम्॥
नानाधात्वर्थगम्भीरा यमकव्यपदेशिनी।
प्रहेलिका सा ह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे॥
काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः॥

इस उक्ति मे जिस प्रकार की यमक-रचना का अनुमोदन भामह ने किया है वह यमक-रचना, भामह के पूर्ववर्ती अथवा समसामयिक संस्कृत काव्य साहित्य में, केवल महाकवि कालिदास के रघुवंश के नवम सर्ग में ही दिखाई

१. भामह : काव्यालंकार २.१८,१९,२०।

देती है अन्यत्र नहीं । ऐसा यमक-बन्ध जो 'प्रतीत शब्द' हो (जिसके शब्दों से काव्य पाठक परिचित हो) 'ओजस्वी' हो (शिथिलबन्ध के रूप में काव्य पाठकों का उद्वेगजनक न हो) 'सुश्लिष्टपदसन्धि' हो (जिसके पदों का परस्पर सन्धान स्वाभाविक और सुन्दर लगे), प्रसादपूर्ण हो और 'स्वभिधान' अथवा काव्य पाठ में मधुर प्रतीत हो, कालिदास का ही 'यमक' बन्ध है जिससे भामह की यमक-समीक्षा प्रेरित हुई है । जो भी कवि 'यमक' अलंकार की योजना से अपने काव्य को अलंकृत करना चाहे उसे यमक-बन्ध के भी यशस्वी कवि कालिदास के मार्ग का अनुगमन करना चाहिए न कि रामशर्मा के यमक-मार्ग का जिसके अनुगमन में यमक-काव्य की रचना असम्भव है । यमक कोई पहेली नहीं जिसे समझने और समझाने के लिए व्याकरण शास्त्र की बारीकियों की आवश्यकता पड़े, यमक तो काव्य का एक अलंकार है जिसके विन्यास सौष्ठव की शिक्षा कालिदास से ही मिल सकती है । कालिदास के यमक-बन्ध का एक दृष्टान्त देखिये जिससे रघुवंश के नवम सर्ग का प्रारम्भ होता है[1]--

पितुरनन्तरमुत्तरकोसलान् समधिगम्य समाधिजितेन्द्रियः ।
दशरथः प्रशशास महारथो यमवतामवतां च धुरि स्थितः ॥

इस श्लोक के चतुर्थ चरण में वही यमक-बन्ध है जिसे भामह ने 'प्रतीत-शब्द' 'ओजस्वी' 'सुश्लिष्टपदसन्धि' 'प्रसन्न' तथा 'स्वभिधान' इन पांच विशेषणों से विशिष्ट प्रतिपादित किया है । भामह के यमक-लक्षण में ही यह अभिप्राय भी अभिव्यक्त हो जाता है कि जो भी कवि यमक का काव्य में प्रयोग करे उसे 'कृती कालिदास' के यमक सौन्दर्य का मनोयोगपूर्वक अवलोकन करना चाहिये ।

भामह का निम्नलिखित अर्थान्तरन्यास लक्षण देखिये जिसमें यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने महाकवि कालिदास के 'अर्थान्तरन्यास' का स्वयं भी अनुहरण किया है और दूसरे कवियों को ऐसे अनुहरण का आदेश सा दिया है[2]--

हि शब्देनापि हेत्वर्थप्रथनादुक्तसिद्धये ।
अयमर्थान्तरन्यासः सुतरां व्यज्यते यथा ॥
वहन्ति गिरयो मेघानभ्युपेतान्गुरूनपि ।
गरीयानेव हि गुरून्बिभर्ति प्रणयागतान् ॥

इस उपर्युक्त अर्थान्तरन्यासलक्षण और उदाहरण में महाकवि कालिदास के मेघदूत की निम्नोद्धृत सूक्ति पर ध्यान जाता है[3]—

---

१. रघुवंश ९.१ ।
२. काव्यालंकार २.७३,७४ ।
३. मेघदूत पूर्वमेघ १.११ ।

त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः ।
न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ॥

भामह ने मेघदूत की इस सूक्ति का कैसे अनुहरण किया है इसे, जो भी उनके उदाहरण श्लोक–'वहन्ति गिरयो मेघान्' आदि को देखे, स्वयं समझ सकता है। कालिदास की सूक्ति में 'हि' शब्द का कहीं प्रयोग नहीं किन्तु अर्थान्तरन्यास अलंकार अवश्य प्रयुक्त है। कालिदास के 'अर्थान्तरन्यास' की रूपरेखा के स्पष्टीकरण में ही भामह ने अपना उदाहरण श्लोक रचा है और इसीलिए 'हि' शब्द के प्रयोग-स्वारस्य का विशेष उल्लेख किया है।

दण्डी के अनुसार काव्य में 'अनुहरण'

दण्डी के काव्यादर्श का निम्नलिखित श्लोक देखिये[1]—

प्रसादवत् प्रसिद्धार्थमिन्दोरिन्दीवरद्युति ।
लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः ॥

इसमें वैदर्भमार्ग की एक विशेषता का वर्णन है जिसे 'प्रसाद' कहा गया। और साथ ही साथ महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल की निम्नलिखित प्रसिद्ध सूक्ति का भी अनुहरण है[2]—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥

इन दोनों सूक्तियों के रेखांकित पद सन्दर्भों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि काव्याचार्य दण्डी ने महाकवि कालिदास के 'वैदर्भमार्ग' का यहाँ विश्लेषण ही नहीं किया है अपितु अपनी रचना में 'अनुहरण' भी किया है। दण्डी की काव्य समीक्षा, काव्य की श्रीवृद्धि में अनुहरण के महत्त्व को पूर्णतया स्वीकार करती है जैसा कि हमने 'अलंकारवाद की दृष्टि में काव्य में मौलिकता' के प्रकरण में दिखाने का प्रयत्न किया है।

दण्डी ने द्रव्य स्वभाव की उक्ति के उदाहरण के रूप में एक श्लोक रचा है[3]—

---

१. काव्यादर्श १.४५ । २. अभिज्ञानशकुन्तल १ ।
३. काव्यादर्श २.१२ ।

कण्ठेकालः करस्थेन कपालेनेन्दुशेखरः ।
जटाभिः स्निग्धताम्राभिराविरासीद् वृषध्वजः ॥

यह श्लोक, ऐसा प्रतीत होता है मानो, महाकवि कालिदास के कुमार-सम्भव की निम्नलिखित काव्यसूक्ति के अर्थानुहरण मे रचा गया हो[1]—

विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा
गजाऽजिनालम्बि दुकूलधारि वा ।
कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं
न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः ॥

दण्डी ने अलंकारों के उदाहरण रूप से अनेकों श्लोक रचे हैं। इन श्लोकों में वस्तुतः प्राचीन काव्य साहित्य की सूक्तियों के शब्द अथवा अर्थ का अनुहरण यत्र तत्र दृष्टिगत होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दण्डी ने 'अनुहरण' सिद्धान्त का स्वयं प्रयोग करके, समसामयिक तथा आगे आने वाले कवियों के लिए, काव्य मार्ग की प्रशस्तता का यथासम्भव प्रकाशन कर दिया है। दण्डी के बताये मार्ग पर चलनेवाले कवि 'काव्य में चोरी' के दोष के भागी नहीं हो सकते अपितु काव्य सम्पत्ति के सदुपयोग और संवर्द्धन के सुयश के ही भागी हो सकते हैं।

काव्य में अनुहरण : उद्भट की काव्यकृति का निदर्शन

भामह के व्याख्याकार 'उद्भट' आलंकारिक ही नहीं अपितु अपने समय के काश्मीर के एक जाने माने कवि भी रह चुके हैं। उद्भट के 'काव्यालंकार सारसंग्रह' में अलंकारों के दृष्टान्त निरूपण के प्रसङ्ग में, उन्हीं के 'कुमारसम्भव' के श्लोक उद्धृत हैं। 'कुमारसम्भव' की मौलिक कृति कालिदास की है और उद्भट रचित 'कुमारसम्भव' कालिदास के कुमारसम्भव का ही 'अनुहरण है। कुमारसम्भव की रचना में महाकवि कालिदास का उद्देश्य कुछ और था और उद्भट ने कालिदास के कुमारसम्भव के रूपान्तरण में कुछ दूसरा ही उद्देश्य रखा है। उद्भट के 'कुमारसंभव' में महाकवि कालिदास के कुमारसम्भव का रसनिष्यन्द नहीं अपितु उसके शब्द और अर्थ तथा वृत्त और चरित का रूपान्तरण अवश्य है। उद्भट की निम्नलिखित सूक्तियाँ देखिये[2]—

अङ्गलेखाभकाश्मीरसमालम्भनपिंजराम् ।
अनलक्तकताम्राभासोष्ठमुद्रां च बिभ्रतीम् ॥

---

१. कुमारसम्भव ५.७८ ।

२. काव्यालंकारसारसंग्रह २.२०,२२,२६,२८ ।

दन्तप्रभासुमनसं पाणिपल्लवशोभिनीम् ।
तन्वीं वनगतां लीनजटाषट्चरणावलिम् ॥
तपस्तेजःस्फुरितया निजलावण्यसंपदा ।
कृशामप्यकृशामेव दृश्यमानामसंशयम् ॥
पतेद् यदि शशिद्योतच्छटा पद्मे विकासिनि ।
मुक्ताफलाक्षमालायाः करेऽस्याः स्यात्तदोपमा ॥

उद्भट के 'कुमारसम्भव' की ये सूक्तियां कालिदास के 'कुमारसम्भव' की कई एक सूक्तियों के अनुहरण अथवा अनुकरण में निकली हैं। जैसे कि[1]—

असंभृतं मण्डनमंगयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साऽथ वयः प्रपेदे ॥
चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुंक्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोलां द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥

अतएव यह स्पष्ट है कि अलंकारवाद की दृष्टि में 'अनुहरण' काव्यकला का एक आवश्यक अंग है। जीवन की भाँति, काव्य-साहित्य में भी, कोई ऐसी सृष्टि नहीं दिखाई देती है जो आकस्मिक हो। बिना बीज के जैसे कोई फूल नहीं निकल सकता वैसे ही उन कवियों की भी कृतियाँ जिन्हें हम सर्वथा अपूर्व अथवा सर्वथा मौलिक मान लेते हैं, उन कवियों की कृतियों से प्रेरित तथा प्रभावित रहा करती हैं जो उनके पहले या उनके साथ काव्य के क्षेत्र में सफल परिश्रम कर चुके होते हैं। शब्द और अर्थ के अलंकारों की सीमा अब तक नहीं बंधी। उक्ति वैचित्र्य की मौलिकता इन विविध वाच्यालंकारों की यथाप्रसङ्ग योजना द्वारा प्रकाशित ही होती है। प्राचीन काव्यों और काव्यसूक्तियों के रूपान्तरण में भी कवि अपनी कला का यथासम्भव विकास करने में स्वतन्त्र है।

---

१. कुमारसम्भव १.३१,४३।

आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की दृष्टि में 'अनुहरण'

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने, काव्य में 'अनुहरण' के सम्बन्ध में विचार न कर, काव्य में 'संवाद' के सम्बन्ध में विचार किया है। ध्वनिकार का 'काव्य संवाद' सिद्धान्त के रूप में प्रवर्तित दिखाई देता है। 'संवादिन्य एवं मेधाविनां बुद्धयः[1]' में मेधावी कवियों की बुद्धियां परस्पर एक समान हुआ करती हैं ध्वनिकार की यह उक्ति 'काव्य में अनुहरण' सिद्धान्त का मूलसूत्र प्रतीत होती है। 'संवाद' का अभिप्राय अन्य सादृश्य है[2]—

'संवादो ह्यन्यसादृश्यम्'

काव्य में संवाद अथवा साम्य : काव्यसृष्टि का नियम

प्राचीन कविकृत काव्य के सदृश नवीन कविकृत काव्य का होना कोई अपवाद नहीं अपितु नियम है। प्रत्येक कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों की साहित्यिक परम्परा का उत्तराधिकारी होता है। जिसे साहित्यिक परम्परा कहा करते हैं वह वस्तुतः प्राचीन अथवा समकालीन किसी महाकवि के प्रभाव का ही परिणाम है। यह बात रीतियों के उद्भव और विकास में स्पष्ट हो जाती है। सबसे पहले कालिदास की ही काव्यरचना शैली का नाम 'वैदर्भी रीति' रखा गया अथवा और कोई कवि 'वैदर्भीरीति' की साहित्यिक परम्परा का जन्मदाता है इस सम्बन्ध में संस्कृत काव्य साहित्य का इतिहास मूक है किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि अलंकारशास्त्र में कालिदास की ही 'वैदर्भी शैली' के प्रभाव का विश्लेषण किया गया है। कालिदास की वैदर्भी शैली का अनुसरण अथवा अनुहरण करनेवाले कवियों की एक बड़ी संख्या है। कालिदास के काव्यार्थ तथा कालिदास के शब्दार्थविन्यास के प्रभाव में काव्य-रचना करने वाले कवियों में 'संवाद' का होना एक स्वाभाविक बात है।

अनुहरण और संवाद में परस्पर सम्बन्ध

'अनुहरण' और 'संवाद' में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। अनुहरण के कारण काव्य साहित्य के क्षेत्र में 'शैलियाँ' बना करती हैं। वाल्मीकि की प्रतिभा से प्रसूत रामायण के 'विषय' का अनुहरण आज भी हो रहा है। रामायण का

---

१. ध्वन्यालोक ४.११ वृत्ति। २. वही ४.१२।

'विषय' वाल्मीकि का व्यक्तिगत विषय नहीं अपितु संस्कृत के कवियों के लिए सामाजिक उपयोग का विषय रहा है। संस्कृत कवियों की रामायण के विषय के वर्णन की परम्परा भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं के कवियों में निरन्तर चलती आ रही है। वस्तुतः 'अनुहरण' बिना काव्य-कला विकसित नहीं हो सकती। कविता की भांति अन्य ललित कलाओं के भी विकास का कारण 'अनुहरण' ही है। वैज्ञानिक विकास भी अनुहरण की ही अपेक्षा करता है। अनुहरण जीवन का एक सनातन नियम है जिसके अवरोध से जीवन का विकास अवरुद्ध हो जाता है।

अनुहरण में भी मौलिक प्रतिभा का प्रकाशन

एक विषय पर काव्य लिखने वाला कोई कवि चाहे कितना भी मौलिक होने का प्रयत्न क्यों न करे किन्तु उसी विषय पर काव्य रचने वाले दूसरे कवि के साथ उसका संवाद अथवा साम्य अवश्य स्थापित हो जायगा। उदाहरण के लिए महाकवि भवभूति का ही लीजिये। भवभूति में मौलिक कवि-प्रतिभा की मात्रा कालिदास से कम नहीं। यदि कालिदास के पहले कहीं भवभूति हुए होते तो भवभूति का प्रभाव कालिदास की कृतियों पर स्पष्ट दिखाई देता रहता। किन्तु कालिदास कालक्रम में पहले हुए हैं अतएव भवभूति को अपनी मौलिक प्रतिभा के प्रसार के लिए पर्याप्त परिश्रमशील होना पड़ा। भवभूति ने उत्तररामचरित की रचना में अपनी समस्त मौलिक कवित्व शक्ति लगा दी है किन्तु 'उत्तररामचरित' के प्रेमी संस्कृत पाठकों से यह छिपा नहीं है कि भवभूति की इस मौलिक कृति पर महाकवि कालिदास का प्रभाव पड़ा है। इसलिए महाकवि कालिदास के काव्यार्थ और भवभूति के काव्यार्थ में जहां-तहां 'संवाद' अथवा साम्य का होना स्वाभाविक है। किन्तु यह 'साम्य' अथवा 'संवाद' किस प्रकार का है यह एक विचारणीय बात है। भवभूति ने उत्तररामचरित के प्रथम अंक में राम और सीता के चित्र-वीथी-दर्शन का बड़ा सुन्दर और बड़ा मौलिक निरूपण किया है। किन्तु भवभूति की यह मौलिक 'चित्र-वीथी' कल्पना महाकवि कालिदास की निम्नलिखित सूक्ति से स्फुरित हुई है[१]—

तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन्॥

महाकवि कालिदास ने, इस सूक्ति में, राम और सीता के वनवास वृत्तान्त

---

१. रघुवंश १४.२५।

पर अयोध्या के राजप्रासाद में जिस 'चित्रवीथी' का सूक्ष्म संकेत किया है, वही चित्रवीथी, भवभूति के उत्तररामचरित के प्रथम अंक चित्रवीथीअंक की मूल प्रेरणा है किन्तु इस प्रेरणा से भवभूति ने जो इस 'चित्रवीथी' पर काव्य-रचना की है वह सर्वथा मौलिक है। इस चित्रवीथी के प्रसंग में भवभूति की यह स्मरणीय सूक्ति देखिये[1]—

अयं तावद् वाष्पस्त्रुटित इव मुक्तामणिसरो,
विसर्पन्धाराभिर्लुठति धरणीं जर्जरकणः।
निरुद्धोऽप्यावेगः स्फुरदधरनासापुटतया
परेषामुन्नेयो भवति चिरमाध्मातहृदयः॥

यहां कालिदास की सूक्ति का कोई 'संवाद' नहीं किन्तु कालिदास की सूक्ति की प्रेरणा अवश्य है 'अयं तावद् वाष्पः' आदि सूक्ति में राम के अश्रुप्रवाह का चित्रण, राम और सीता दोनों के द्वारा राम के अश्रुप्रवाह के चित्र का दर्शन और चित्र-दर्शन में अलौकिक आनन्द की अनुभूति सभी कुछ निहित है। यदि भवभूति ने यह श्लोक न रचा होता तो 'प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु...... संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन्' का अभिप्राय सहृदयों के लिए अप्रतर्क्यरूप बना रहता।

प्रतिभाशाली कवियों में परस्पर संवाद 'तुल्यदेहितुल्य' रूप

इसलिए यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि काव्य संवाद एक रूप का नहीं अपितु भिन्न भिन्न रूप का ही हुआ करता है। भवभूति ने कालिदास का जैसा अनुहरण किया है अथवा बाण ने कालिदास का जैसा अनुहरण किया है वैसा ही कालिदास का अनुहरण अन्य कवि नहीं कर सके। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस कवि में जितनी प्रतिभा होगी उस कवि में, अनुहरण में मौलिकता के प्रदर्शन की उतनी ही शक्ति और स्फूर्ति होगी। वाल्मीकि और व्यास, कालिदास और भवभूति, कालिदास और बाण, कालिदास और भारवि अथवा वाल्मीकि और कालिदास में ही जो काव्य संवाद परिलक्षित होता है वह इनमें उपमानोपमेयभाव में परिणत हो जाता है। जैसे उपमान और उपमेय एक दूसरे की अनुकृति नहीं अपितु परस्पर भिन्न अस्तित्व और स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखा करते हैं वैसे ही वाल्मीकि और कालिदास के काव्यार्थ अथवा कालिदास और भवभूति के काव्यार्थ, जहाँ-तहाँ साम्य अथवा संवाद रखते हुए भी परस्पर भिन्न-भिन्न रूप के ही दिखाई देते हैं। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने इस अति-

---

१. उत्तररामचरित १.२९।

विचित्र कवि परम्परावाही संसार में अधिक से अधिक जिन छै कवियों को विना नाम निर्देश के, महाकवि माना है उनमें भी काव्य संवाद तो है किन्तु यह काव्यसंवाद 'तुल्यदेहितुल्य' है। वह काव्य संवाद जो 'तुल्यदेहितुल्य' की श्रेणी में आ सकता है दो महाकवियों के मौलिक प्रतिभान के एक समान ऐश्वर्य का ही द्योतक हो सकता है। आनन्दवर्धन ने इस प्रकार के संवाद का नाम 'तुल्यदेहितुल्य' रखा है[1] 'तृतीयं (तुल्यदेहितुल्य) तु प्रसिद्धात्म।'

'तृतीयं तु विभिन्नकमनीयशरीरसद्भावे सति ससंवादमपि काव्यवस्तु न त्यक्तव्यं कविना। नहि शरीरी शरीरिणान्येन सदृशोऽप्येक एवेति शक्यते वक्तुम्।

अर्थात् 'तुल्यदेहितुल्य' नामक काव्यसंवाद वस्तुत: दो मौलिक काव्यकृतियों की एक विशेषता ही है। जैसे दो परस्पर भिन्न व्यक्तियों में कई बातों में परस्पर समानता भी रहा करती है किन्तु तब भी वे एक नहीं माने जाते वैसे ही दो परस्पर भिन्न-भिन्न काव्यकृतियों में परस्पर साम्य अथवा संवाद भी रहा करता है किन्तु तब भी वे एक नहीं मानी जातीं। अभिज्ञानशाकुन्तल और उत्तररामचरित में कितना भी संवाद अथवा साम्य हो, इनमें संवाद अथवा साम्य है भी, किन्तु दोनों काव्यकृतियाँ सर्वथा मौलिक अथवा परस्पर सर्वथा नयी रचनाएँ हैं। कालिदास के अनुसरण अथवा अनुहरण में भी भवभूति की प्रतिभा नयी काव्यसृष्टि करने में समर्थ है। जैसे महात्मा गाँधी का महान व्यक्तित्व भगवान् बुद्ध के महान व्यक्तित्व के साथ कुछ न कुछ समता रखते हुए भी सर्वथा मौलिक सर्वथा प्रतिविशिष्ट है वैसे ही महाकवि भवभूति की काव्यकृतियाँ, महाकवि कालिदास की काव्यकृतियों से जहाँ-तहाँ संवाद रखने पर भी नितान्त मौलिक ही प्रतीत होती हैं। 'तुल्यदेहितुल्य' नामक काव्य-संवाद तो कवि जन का परम आदर्श है और संस्कृत के सभी ख्यातनामा कवि अपनी काव्यरचनाओं में इस आदर्श को प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते आए हैं।

काव्य में संवाद, राजशेखर द्वारा ध्वनिकार का अनुमोदन

कविराज राजशेखर ने ध्वनिकार आनन्दवर्धन के 'तुल्यदेहितुल्य' काव्य संवाद का सर्वथा समर्थन और अनुमोदन किया है। वैसे राजशेखर ने काव्य-संवाद का विश्लेषण न करके 'काव्यार्थ के अनुहरण' का विश्लेषण किया है किन्तु इस विश्लेषण का जो निष्कर्ष निकलता है वह काव्य में संवाद के ही सिद्धान्त का निष्कर्ष है। राजशेखर ने ध्वनिकार आनन्दवर्धन के 'तुल्यदेहि-

---

१. ध्वन्यालोक ४.१३।

तुल्य' काव्यसंवाद को तुल्यदेहितुल्य काव्यानुहरण के रूप में प्रतिपादित कर, समसामयिक कवियों की अनुहरण प्रवृत्ति का मार्ग दर्शन करना चाहा है। कोई कवि किसी कवि से भाव संवाद अथवा उक्ति संवाद की स्थापना के लिए अपनी रचना नहीं करता। वह काव्य रचना करता है और काव्यजगत् के नियम के अनुसार उसकी रचना और उसके प्राचीन अथवा समसामयिक कवि की रचना में संवाद अथवा साम्य स्वयं आ जाता है। 'तुल्यदेहितुल्य' काव्यानुहरण की बात कुछ भिन्न है। ऐसे अनुहरण के द्वारा राजशेखर ने, समकालीन कवियों को, आदर्श काव्यानुहरण की दिशाओं का प्रदर्शन किया है। यदि ऐसी बात न हो तो 'तुल्यदेहितुल्य' के प्रकाराष्टक के निरूपण का क्या अर्थ ? ध्वनिकार ने 'तुल्यदेहितुल्य' काव्य संवाद का प्रकार निरूपण नहीं किया क्योंकि उनका उद्देश्य काव्य के संवाद अथवा साम्य के रूप में एक साहित्यिक तथ्य का उद्घाटन है और राजशेखर का उद्देश्य इस तथ्य समर्थन के साथ-साथ 'तुल्यदेहितुल्य' अनुहरण के रूप में, एक साहित्यिक प्रवृत्ति का अनुमोदन है।

ध्वनिकार तथा लोचनकार की दृष्टि में परित्याज्य काव्य संवाद

ध्वनिकार तथा लोचनकार ने काव्य संवाद के दो और प्रकारों का निरूपण किया है और उनके सम्बन्ध में यह कहा है कि काव्य की समृद्धि के लिए उन्हें त्याज्य ही मानना चाहिये। इनमें पहला काव्य संवाद वह है जिसे 'प्रतिबिम्बवत्' कहते हैं। और दूसरा वह, जिसका नाम 'आलेख्याकारवत्' है। इन दोनों का रूप निर्देश ध्वनिकार की निम्नलिखित कारिका और उसकी वृत्ति में है[1]—

संवादो ह्यन्यसादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत्।
आलेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम्॥

संवादो हि काव्यार्थस्योच्यते यदन्येन काव्यवस्तुना सादृश्यम्। तत्पुनः शरीरिणां प्रतिबिम्बवत् आलेख्याकारवत्, तुल्यदेहिवच्च त्रिधा व्यवस्थितम्। किंचिद्धि काव्यवस्तु वस्त्वन्तरस्य शरीरिणः प्रतिबिम्बकल्पम्, अन्यदालेख्यप्रख्यम्, अन्यतुल्येन शरीरिणा सदृशम्।'

अर्थात् एक काव्य के साथ दूसरे काव्य का सादृश्य काव्य संवाद है जिसे तीन रूपों में देखा जाया करता है। इनमें पहला वह है जो प्रतिबिम्बतुल्य 'हुआ

१. ध्वन्यालोक ४. १२।

करता है, दूसरा वह है जो 'आलेख्यतुल्य' है और तीसरा वह जिसे 'तुल्यदेहितुल्य' के रूप में माना जाया करता है और जिसका स्वरूप निरूपण हम पहले कर चुके हैं।

'प्रतिबिम्बतुल्य' संवाद को ध्वनिकार ने 'अनन्यात्मक' कहा है जिसकी व्याख्या के रूप में लोचनकार का यह उल्लेख ध्यान देने योग्य है[१]—

'अनन्यः पूर्वोपनिबन्धकाव्यात्मा स्वभावो यस्य तदन्यात्म येन रूपेण भाति तत् प्राक्कविस्पृष्टमेव यथा येन रूपेण प्रतिबिम्बं भाति, तेन रूपेण बिम्बमेवैतत् ।'

इसका अभिप्राय यह है कि जैसे प्रतिबिम्ब में ऐसी कोई विशेषता नहीं होती जो बिम्ब में न हो वैसे ही प्रतिबिम्बतुल्य काव्य में मूलकाव्य की अपेक्षा कोई भी विशेषता नहीं रहा करती।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन के अनुसार ऐसे काव्यसाम्य से बचने में ही कवि का कल्याण है क्योंकि ऐसे संवाद अथवा साम्य से कवि में मौलिक प्रतिभा की दरिद्रता ही प्रकाशित होती है। प्रतिबिम्बतुल्य काव्य में जीवन नहीं रहता। वह तो केवल निर्जीव शब्दार्थसंस्थानमात्र लगा करता है जो कि तात्विक नहीं हो सकता। जैसे प्रतिबिम्ब में कोई अपूर्वता, कोई विचित्रता, कोई अपनी सुन्दरता नहीं हो सकती है वैसे ही इस प्रकार के काव्य में कवि की कोई भी नयी उद्भावना नहीं रहा करती। राजशेखर ने भी इस प्रकार के संवाद के कारणरूप से 'प्रतिबिम्बप्रख्य' अनुहरण का विवेचन किया है और उसे परित्याज्य कहा है।

इसी भाँति 'आलेख्याकारवत्' काव्यसाम्य अनुग्राह्य नहीं है। ऐसा साम्य 'तुच्छात्म' होता है जैसा कि ध्वनिकार के इस कथन में स्पष्ट है[२]—

'आलेख्यप्रख्यमन्यसाम्यं शरीरान्तरयुक्तमपि तुच्छात्मत्वेन त्यक्तव्यम् ।'

अर्थात् 'आलेख्यतुल्य' काव्यसंवाद भी वर्जनीय है क्योंकि इसमें काव्यशरीर भले ही पृथक् अवस्थित प्रतीत हो किन्तु उसमें उसके आत्मतत्व का समुचित प्रकाशन नहीं हुआ करता।

राजशेखर ने भी 'आलेख्यप्रख्य' काव्यानुहरण का निरूपण किया है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में ऐसा 'अनुहरण' परित्याज्य नहीं अपितु परिग्राह्य है। जैसा कि उनकी निम्ननिर्दिष्ट उक्ति से स्पष्ट है[३]—

'ता इमा आलेख्यप्रख्यस्य भिदाः। सोऽयमनुग्राह्यो मार्गः।'

---

१. ध्वन्यालोकलोचन ४.१३। २. ध्वन्यालोक ४. १३ वृत्ति।
३. काव्यमीमांसा अध्याय १३।

ध्वनिकार और लोचनकार के 'आलेख्यतुल्य' काव्यसंवाद की त्याज्यता और राजशेखर के 'आलेख्यप्रख्य' काव्यानुहरण की अनुग्राह्यता में संस्कृत काव्य साहित्य की परिवर्तित प्रवृत्तियों का दर्शन होता है। जिन प्रवृत्तियों को रोकने के लिए आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त पादाचार्य ने ध्वनितत्व का दर्शन कराया वे क्योंकर नहीं रुक सकीं यह एक पृथक् मनन-चिन्तन का विषय है।

आनन्दवर्धनाचार्य का 'काव्यसंवाद' सिद्धान्त और उनकी काव्यकृति में उसका प्रयोग

आनन्दवर्धनाचार्य काव्यविमर्शक होने के साथ-साथ स्वयं एक कवि थे। उन्होंने शब्दशक्तिमूलक 'व्यतिरेक अलंकार' की व्यञ्जना के निदर्शनरूप से अपनी निम्नलिखित सूक्ति उद्धृत की है[1]—

> खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति लूनतमसो ये वा नखोद्भासिनो
> ये पुष्णन्ति सरोरुहश्रियमपि क्षिप्ताब्जभासश्च ये।
> ये मूर्धस्ववभासिनः क्षितिभृतां ये चामराणां शिरां-
> स्याक्रामन्त्युभयेऽपि ते दिनपतेः पादाः श्रियै सन्तु वः॥

आनन्दवर्धनाचार्य की इस सूक्ति में सूर्य की स्तुति है। सूर्य की इस स्तुति में आनन्दवर्धनाचार्य से प्राचीन प्रसिद्ध कवि मयूर के 'सूर्यशतक' की निम्नलिखित सूक्ति का 'साम्य' स्पष्ट झलकता है[2]—

> शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन्व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषा-
> न्दीर्घाघ्रातानघौघैः पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन्यः।
> घर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्द्विगुणघनघृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्ते-
> र्दत्तार्घाः सिद्धसंघैर्विदधतु घृणयः शीघ्रमंहोविघातम्॥

किन्तु यह साम्य न तो 'प्रतिबिम्बतुल्य' है और न 'आलेख्यप्रख्य'। यह साम्य अथवा संवाद 'तुल्यदेहितुल्य' है। कारण यह है कि मयूर कवि की सूक्ति में उत्प्रेक्षालंकार की योजना का सौन्दर्य दिखाई देता है और आनन्दवर्धनाचार्य की सूक्ति में शब्दशक्त्युत्थ 'व्यतिरेक' की अभिव्यञ्जना का सौन्दर्य झलकता है।

अभिनवगुप्तपादाचार्य की काव्यकृति में काव्यसंवाद

अभिनवगुप्तपादाचार्य की निम्नलिखित सूक्ति देखिये[3]—

---

१. ध्वन्यालोक २.२१। वृत्ति। २. सूर्य शतक ६।
३. ध्वन्यालोकलोचन द्वितीय उद्योत : १२।

दयितया ग्रथिता स्रगियं मया हृदयधामनि नित्यनियोजिता ।
गलति शुष्कतयापि सुधारसं विरहदाहरुजां परिहारकम् ॥

विप्रलम्भ शृंगार के अपरिमित स्वगत भेद प्रभेदों के निदर्शन में लोचनकार ने अपनी ऊपर उद्धृत सूक्ति प्रस्तुत की है। इस सूक्ति पर महाकवि कालिदास के रघुवंश की निम्नलिखित सूक्ति की छाया झलकती है[1]—

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
विषमप्यमृतं क्वचिद् भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥

किन्तु तब भी अभिनवगुप्तपादाचार्य की सूक्ति एक मौलिक काव्य सूक्ति के रूप में ही दिखाई देती है। कवि में प्रतिभा हो तो पूर्वकविकृत काव्य के साथ उसके काव्य के संवाद में भी मौलिकता का ही दर्शन होगा अनुकरण का नहीं।

काव्य में अनुग्राह्य अनुहरण के सम्बन्ध में ध्वनिकार और लोचनकार का ऐकमत्य

ध्वनिकार और लोचनकार दोनों ने काव्यगत साम्य अथवा संवाद की रूपरेखाओं के निरूपण में यह निगूढ़ अभिप्राय अवश्य अभिव्यक्त किया है कि जो भी कवि काव्य-रचना में प्रवृत्त हो उसके लिए 'अनुहरण' के अनुग्राह्य और त्याज्य भेदों से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है ; अनुग्राह्य अनुहरण से ही काव्य का क्षेत्र विकसित होता है और अनुहार्य कवि की भाँति अनुहरण करने वाले कवि का भी यश फैलता है। वस्तुतः यही बात आंग्लभाषा के एक काव्यसमीक्षक की निम्नोद्धृत उक्ति में भी प्रतिपादित है[2]—

"The imitation of other artist is one of the means by which a person enriches and finally establishes his own individuality and on the whole such imitation is more promising than an icing of originality that hardens too quickly.

---

१. ध्वन्यालोकलोचन द्वितीय उद्योत १२ ।

२. Plagiarism and Originality (Alexander Lindey) page 42.

काव्य में 'अनुहरण' पर राजशेखर की दृष्टि

अलंकारशास्त्र के इतिहास में 'काव्यमीमांसा' के प्रणेता राजशेखर (१०वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध) का एक विशिष्ट स्थान है। इन्हें हम अलंकारशास्त्र में 'समन्वयवाद' का प्रथम प्रवर्त्तक मान सकते हैं। इनकी 'काव्यमीमांसा' बड़े खेद की बात है, अभी अपूर्ण ही उपलब्ध होती है किन्तु इसके जितने भी अंश उपलब्ध हैं उनमें काव्य सम्बन्धी प्रायः सभी विषयों की मीमांसा मिल जाती है। काव्य में 'अनुहरण' के सम्बन्ध में लिखने वाले जितने काव्याचार्य हैं उन सब में राजशेखर का स्थान सबसे पहला है। राजशेखर के प्रतिपादित 'काव्य में अनुहरण' के सिद्धान्तों के समन्वय की दृष्टि से यदि हम संस्कृत काव्य साहित्य का अध्ययन करें तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे सामने संस्कृत-कवियों की साहित्यिक प्रवृत्तियों और परम्पराओं की पूरी रूपरेखा प्रकाशित हो जायेगी।

अनुहरण : मौलिक काव्य-साहित्य सृष्टि की एक प्रवृत्ति

राजशेखर की दृष्टि में जिसे 'अनुहरण' कहते हैं वह कविमात्र की एक मौलिक साहित्यिक प्रवृत्ति है। राजशेखर के अनुसार वस्तुतः कवि वह है जो 'प्रतिभाव्युत्पत्तिमान्' हुआ करता है (प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते)।[1] प्रतिभा और व्युत्पत्ति का परस्पर समसंयोग ही काव्यरचना के लिए परम श्रेयस्कर है (प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ)[2]। कवित्व की पहिचान वाणी की सर्वत्र अप्रत्याहत गति में है (इदमेव तत्कवित्वं यद्वाचः सर्वतोदिक्का)[3]। कवि की वाणी की सर्वत्र अप्रतिहत गति तभी हो सकती है जब कि वह शास्त्र और काव्यरूप वाङ्मय के अनुशीलन में सिद्ध हो। काव्यरचना के प्रति प्रवृत्त होने के पहले कवि के लिये यह आवश्यक है कि वह काव्य की विद्या और उपविद्या में प्रवीण हो। काव्य की विद्या में शब्दानुशासन, अभिधानकोश, छन्दोऽनुशासन और अलंकारशास्त्र का ज्ञान अपेक्षित है और काव्य की उपविद्या में 'चतुःषष्टि कला' का परिचय अभिनन्दनीय है। 'काव्यविद्या' और 'काव्योपविद्या' के ग्रहण और परिचय के अतिरिक्त 'सुजनोपजीव्यकविसन्निधि' (सहृदयों के द्वारा प्रशंसित समसामयिक कवि का सान्निध्य)। देशवार्ता,

---

१. राजशेखर : काव्यमीमांसा पञ्चम अध्याय।

२. वही।   ३. वही।

विदग्धवाद, लोकयात्रा, विद्वद्गोष्ठी और 'पुरातनकवि काव्यसेवन'—ये सभी कवित्व के लिए अत्यन्त उपादेय हैं। राजशेखर ने इसीलिए कवित्व को 'अष्टमातृक' कहा है[१]—

स्वास्थ्यं प्रतिभाऽभ्यासौ भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता।
स्मृतिदार्ढ्यमनिर्वेदश्च मातरोऽष्टौ कवित्वस्य॥

किसी कवि के लिए यह सब सामग्री-संभार वस्तुतः उसकी सांस्कृतिक निधि है जो उससे पूर्ववर्ती कवियों के अनुहरण अथवा आदान-प्रदान की मर्यादा से सम्पन्न और सुरक्षित होती चली आ रही है। यह कोई परकीय धन नहीं जिसका हरण वर्जित माना जाये। यह तो कविमात्र का 'मूलधन' है जिसका यथेच्छ उपयोग और प्रयोग कविमात्र का जन्मजात अधिकार है। किसी भी देश के एक युग का साहित्य उसके पूर्ववर्ती युग के साहित्य के प्रभाव से ही बनता और बढ़ता है। यदि वाल्मीकि न होते तो कालिदास कहां से आते। यदि कालिदास न होते तो भवभूति कहां से बन जाते। यदि भारवि का किरात-काव्य न रचा गया होता तो माघ का शिशुपाल-काव्य कैसे रच जाता।

अनुहरण : कविता में चोरी नहीं

काव्य में अनुहरण मौलिकता को जन्म देता है। अनुहरण पूर्ववर्ती कवि अथवा पूर्ववर्ती युग के काव्य की छाया का ग्रहण है। पूर्ववर्ती कवि अथवा काव्य की रसभावना, पूर्ववर्ती कवि अथवा काव्य की विचारधारा किंवा पूर्ववर्ती कवि अथवा काव्य की आशा और आकांक्षा के प्रभाव में काव्य करना कोई 'काव्य तस्करता' नहीं। यह अनुहरण अथवा छाया-ग्रहण है जो कवित्व-कला के प्रकाशन का एक साधन है। रामायण के वस्तुवृत्त, रसभाव आदि के प्रभाव में 'रघुवंश' की रचना इसी 'अनुहरण' का एक आदर्श उदाहरण है। कालिदास ने 'रघुवंश' में वाल्मीकि के कवित्व और काव्य का अपहरण नहीं किया। वाल्मीकि के कवित्व और काव्य से कालिदास ने अपने 'कवि-व्यक्तित्व' का संस्कार किया और इस संस्कार से वे ऐसे चमके कि वाल्मीकि की भांति वे भी अमर कवि हो गए। अनुहरण की क्रिया कवि का आत्म-संस्कार है। यहां आंग्लभाषा के प्रसिद्ध साहित्यकार रॉबर्ट लुई स्टिवेंसन की एक उक्ति के उद्धरण का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते क्योंकि इसमें 'काव्य में अनुहरण' की अनिवार्यता और उपादेयता का बड़ा सुन्दर अभिव्यञ्जन है—

"Whenever I read a volume or passage that particularly

---

१. राजशेखर काव्यमीमांसा १०म अध्याय।

pleased me, in which a thing was stated or a fact rendered with propriety, in which there was some conspicuous force or happy distinction in the style, I must sit down at once and sit myself to ape that quality. I was unsuccessful and I know it. I tried again and was again unsuccessful and always unsuccessful, but at least in these vain hours I got some practice in rhythm, in harmony, and construction and co-ordination of parts. I have thus played the sedulous ape to Hazlitt, to Lamb, to Wordsworth, to Sir Thomas Browne, to Defoe, to Hawthorne, to Montaigne, to Bandelaire and Oberman".

अर्थात् 'जब कभी मुझे किसी ऐसे ग्रन्थ अथवा उसके किसी ऐसे सन्दर्भ के पढ़ने का अवसर मिलता है जिसमें किसी विषय के निरूपण अथवा किसी घटना के वर्णन में कोई औचित्य प्रतीत हो अथवा जिसमें कोई विलक्षण प्रभावोत्पादकता किंवा शैली की मनोरंजक विशेषता का आभास हो, तो मैं उस विशेषता का अपनी रचना में आधान करने के लिए तत्पर हो उठता हूँ। मुझे पता है कि एक बार के प्रयत्न से मुझे सफलता नहीं मिलती है। मैं पुनः प्रयत्न करता हूँ किन्तु तब भी सफलता नहीं मिलती। सदा मुझे असफलता ही मिलती है किन्तु इस असफलप्रयत्नशीलता के क्षणों में ही मुझे काव्यात्मक वर्णसंवाद, संगीतात्मक पद-सौन्दर्य तथा समुचित पदनिबन्ध का अभ्यास अवश्य हो जाता है। मैंने अनेकों साहित्यकारों हैज़लिट, लैम्ब, वड्र्सवर्थ, सर टामस ब्राउन, डीफो, हौथर्न, मौन्टेय, वाड्लेयर, ओबरमैन आदि आदि की साहित्यिक कृतियों का अपनी रचनाओं में बड़े मनोयोग से अनुहरण किया है।'

अस्तु, अंग्रेज़ी के उपर्युक्त साहित्यकार की उपर्युक्त अनुहरण भावना में 'काव्य में अनुहरण' की प्रवृत्ति की उपादेयता स्पष्ट प्रतीत होती है। अनेकों साहित्यकारों की काव्यात्मक प्रवृत्तियों और परम्पराओं के अनुहरण में ही रॉबर्ट लुई स्टिवेंसन की अपनी साहित्यिक प्रतिभा पूर्णतया विकसित हुई है। संस्कृत के काव्याचार्य भी काव्यप्रबन्ध के उद्भव और विकास के लिए 'अनुहरण' की अपेक्षा के समर्थक हैं। राजशेखर ने तो यहाँ तक कहा है कि यदि कोई 'अनुहरण' की इस प्रवृत्ति को 'अपहरण' की भी चेष्टा कहें तो कवि और काव्य को कोई क्षति नहीं है क्योंकि इसमें 'पर—स्व' की लोलुपता की

कोई बात नहीं। कोई ऐसा आज तक नहीं हुआ जो 'अनुहरण' की कला के बिना ही कवि बन गया हो[१]—

नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः।
स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितुम् ॥
उत्पादककविः कश्चित् कश्चिच्च परिवर्तकः।
आच्छादकस्तथा चान्यास्तथा संवर्गकोऽपरः ॥
शब्दार्थोक्तिषु यः पश्येदिह किञ्चन नूतनम्।
उल्लिखेत् किञ्चन प्राच्यं मन्यतां स महाकविः ॥

अर्थात् कोई ऐसा कवि नहीं है जिसने दूसरे कवि की काव्य-सम्पत्ति से कुछ न कुछ 'अपहरण' न किया हो और कोई भी ऐसा व्यवसायी नहीं है जिसने दूसरे की व्यवसाय समृद्धि से कुछ न कुछ ग्रहण न किया हो। व्यवसाय की भाँति काव्य में 'अपहरण' कोई निन्दा की बात नहीं है क्योंकि अपहरण के बाद एक कवि ऐसा काव्य रच देता है जो उसकी प्रातिस्विक प्रतिमा सा हो कर सहृदयों का हृदय-हारक हो जाता है। दूसरा कवि किसी अन्य कवि की सूक्ति से प्रभावित होकर ऐसी काव्यकृति का उत्पादक बन जाता है जिसमें अन्य कवि की सूक्ति अर्थान्तर में संक्रान्त होकर नवीन सी दिखाई देने लगती है, तीसरा कवि किसी दूसरे कवि की सूक्तियों पर अपनी प्रतिभा और कल्पना का ऐसा वितान तान देता है कि देखने वाले चमत्कृत हो उठते हैं और चौथे प्रकार का कवि अनेकों कवियों और काव्यों से अर्थसौन्दर्य का ऐसा संग्रह करता है कि उसकी अपनी कृति नाना प्रकार के पुष्परस से सम्पादित मधु की भाँति सर्वप्रिय किंवा सर्वग्राह्य हो जाती है। इन चतुर्विध 'काव्यापहारक' कवियों के अतिरिक्त एक और कविश्रेणी है जो महाकवियों की श्रेणी है। ये महाकवि वे हैं जो अन्यकविकृत काव्यों की सूक्तियों में 'नवीनता' की पहचान कर लेते हैं और अपनी सूक्तियों में अपनी प्रतिभा से उसी के समकक्ष नवीन काव्य-सूक्ति की सृष्टि से अमर हो जाते हैं।

अनुहरण की नवीन काव्य-सृष्टि में उपकारिता

यह 'अपहरण' वाक्चौर्य नहीं अपितु काव्यजगत् में 'उपजीव्य-उपजीवक' अथवा 'उपकार्य-उपस्कारक' के स्वाभाविक सम्बन्ध की एक व्यवस्था है। इस व्यवस्था के अनुसरण में जो कुशल होते हैं वे कवि' बन जाते हैं और जो कुशल नहीं हो सकते उन्हें 'काव्य-तस्कर' की निन्दा का पात्र बनना पड़ता

१. राजशेखर : काव्यमीमांसा ११ वां अध्याय।

है। ऐसे ही अकुशल अथवा मन्दमति काव्यापहारकों को लक्ष्य में रखकर राजशेखर ने कहा है[1]—

पुंसः कालातिपातेन चौर्यमन्यद् विशीर्यति।
अपि पुत्रेषु पौत्रेषु वाक्चौर्यं च न शीर्यति॥

अर्थात् और किसी वस्तु की चोरी को तो लोग समय के व्यवधान से भूल भी जाते हैं किन्तु कविता की चोरी को पीढ़ियों के बीत जाने पर भी लोग नहीं भूल पाते।

इस प्रकार काव्य में उस 'अपहरण' को जो कि उपादेय है, क्योंकि उसके बिना किसी भी देश के काव्य-साहित्य का सर्वतोमुख विकास नहीं हो सकता है और जो कि पूर्व पूर्व काव्य-साहित्यकारों की संचित और सुरक्षित वाङ्मय-निधि में योगदान के तुल्य है, वाक्चौर्य अथवा काव्य में तस्कर व्यापार से पृथक् करने के लिए, अनुहरण अथवा अनुग्राह्य 'शब्दहरण' अथवा 'अर्थहरण' के पारिभाषिक शब्द द्वारा संकेतित करना उचित है। राजशेखर की शब्दहरण सम्बन्धी धारणा में इस अनुहरण की ही धारणा प्रकाशित है। राजशेखर के अनुसार किसी प्राचीन कवि अथवा काव्य के ऐसे पद अथवा पादसन्दर्भ का ग्रहण वाञ्छनीय है जो कि नवीन कवि के स्मृति-कोष में सुरक्षित है। किसी नवीन कवि के स्मृति-कोष में किसी प्राचीन कवि का कोई सारगर्भित पद अथवा पाद सन्दर्भ इसीलिये सुरक्षित रह सकता है क्योंकि नवीन कवि ने अपने प्राचीन कवि की ही काव्यकृति के रसभाव के आनन्द में अपनी कविता की प्रेरणा पाई है। १३ वीं, १४ वीं शताब्दी के विशिष्टाद्वैतवेदान्त के प्रमुख आचार्य अथवा संस्कृत के एक महान कवि श्रीवेदान्तदेशिक ने अपनी काव्य-रचना प्रक्रिया के विश्लेषण में स्पष्ट कहा है कि कविजन अपनी स्मृति-शक्ति के द्वारा काव्य की रचना किया करते हैं 'स्मृत्यैव हि कवयः काव्यानि कुर्वन्ति'।[2]

काव्य में 'अनुहरण' और 'अपहरण' का भेद

राजशेखर ने काव्य में 'अपहरण' की प्रवृत्तियों पर भी दृष्टिपात किया है। काव्यापहार की प्रवृत्ति दो प्रकार की है पहली निन्दनीय और दूसरी वन्दनीय। राजशेखर की दृष्टि में, काव्यापहार की निम्नलिखित प्रवृत्तियां निन्दनीय हैं जिन्हें राजशेखर की ही प्रेयसी अवन्तिसुन्दरी का समर्थन प्राप्त था[3]—

---

१. राजशेखर : काव्यमीमांसा ११ अध्याय।

२. वेदान्तदेशिक : न्यायपरिशुद्धिः स्मृतिप्रकरण,।

३. राजशेखर : काव्यमीमांसा ११ अध्याय।

१. किसी कवि का अन्य कवि के शब्द अथवा अर्थ का यह समझकर हरण कर लेना कि वह अप्रसिद्ध है और मैं प्रसिद्ध हो चुका हूँ। (अयमप्रसिद्धः प्रसिद्धिमानहम्………)

२. एक कवि के द्वारा दूसरे कवि के शब्द अथवा अर्थ का इसलिये अपहरण कि वह काव्यरसिकों में प्रतिष्ठा पा चुका है जब कि दूसरे को प्रतिष्ठा नहीं मिल सकी। (अयमप्रतिष्ठः प्रतिष्ठावानहम्………)

३. अमुक कवि की कृति का प्रचलन नहीं हो पाया है और मेरी कृति का प्रचलन हो चुका है—इस भावना से एक कवि के द्वारा दूसरे कवि के शब्द और अर्थ का हरण (अप्रकान्तम् इदमस्य संविधानकम् प्रक्रान्तं मम……)

४. अपनी रचना श्रुतिमधुर और मनोरम है और दूसरे की रचना कर्णकटु और उद्वेगजनक है इस दृष्टि से दूसरे की रचना के शब्द और अर्थ के हरण की चेष्टा (गुडूचीवचनोऽयं मृद्वीकावचनोऽहम्…………)

५. अमुक कवि ने प्राकृत में लिखा है और मैं संस्कृत में लिख रहा हूँ यह सोचकर एक कवि के द्वारा दूसरे कवि के शब्द अथवा अर्थ का हरण (अनाहृतभाषाविशेषोऽयमहमाहृतभाषाविशेषः……)

६. अमुक काव्यकृति किसकी है, इसे कोई नहीं जानता—यह सोचकर उस काव्यकृति के शब्द और अर्थ के अपहरण की भावना (प्रशान्तकर्तृकमिदम्…………)

७. अमुक काव्य किसी अन्य प्रदेश के कवि की रचना है और मैं अन्य-प्रदेश का हूं इसलिए प्रदेशान्तर के कवि के शब्द और अर्थ के अपहरण से अपने काव्य की श्रीवृद्धि करने की कामना (देशान्तरितकर्तृकमिदम्………)

८. अमुक काव्य उच्छिन्न हो चुका है इसलिए किसी कवि की उसके शब्द और अर्थ के सर्वापहार से अपने काव्य निर्माण की चेष्टा (उच्छिन्ननिबन्धनमूलमिदम्…………) और

९. अमुक काव्य किसी असंस्कृत ग्राम्य कवि की कृति है इसलिए उस के शब्द और अर्थ का निश्चित रूप से अपहरण करके काव्य की रचना करना।

उपर्युक्त शब्दार्थापहरण की प्रवृत्ति का परित्याग श्रेयस्कर है किन्तु अन्य कवि के द्वारा प्रयुक्त ऐसे शब्द और अर्थ के प्रयोग में जो अपने किसी आकर्षण के कारण स्मृतिपटल पर उभर आए हों, जो भी अपहरण होता हो वह श्लाघ्य है त्याज्य नहीं। राजशेखर ने इस प्रकार के अपहरण को 'अनुग्राह्य'

अथवा श्लाघनीय माना है। यहाँ उदाहरण के लिए, आदि कवि वाल्मीकि का यह श्लोक देखिए[१]—

स वेगवान् वेगसमाहितात्मा हरिप्रवीरः परवीरहन्ता।
मनः समाधाय जयोपपत्तौ जगाम लंकां मनसा हनूमान्॥

इस श्लोक का 'मनः समाधाय जयोपपत्तौ' यह सम्पूर्ण चरण महाकवि भारवि को इतना सुन्दर लगा कि इसे वे कभी भूल न सके और उन्होंने इसका अपहरण करके अपने 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य के इस श्लोक में अपना लिया[२]—

इत्युक्तवानुक्तिविशेषरम्यं मनः समाधाय जयोपपत्तौ।
उदारचेता गिरमित्युदारां द्वैपायनेनाऽभिदधे नरेन्द्रः॥

अनुग्राह्य शब्द-हरण

उपर्युक्त रूप का शब्द-हरण जो दोष होने के बदले गुण है, कई प्रकार का हो सकता है। राजशेखर ने इस अनुग्राह्य शब्द-हरण को, जिसे 'अनुहरण' कहते हैं और जो अपहरण से सर्वथा भिन्न है, पञ्चविध बताया है[३]—

१. पदहरण (अन्य कवि प्रयुक्त एक पद का हरण)।

२. पादहरण (अन्य कवि प्रयुक्त एक चरण का हरण)।

३. श्लोकार्द्धहरण (अन्य कवि रचित श्लोक के अर्द्धभाग का हरण)।

४. छन्दोहरण (अन्य कवि के प्रयुक्त किसी छन्द का अपने काव्य में प्रयोग)।

५. सम्पूर्ण श्लोकहरण (अन्य कवि कृत सम्पूर्ण श्लोक का अपने काव्य में स्वीकरण)।

राजशेखर ने शब्द-हरण का जो उपर्युक्त स्वरूप निरूपित किया है उसे हम माघ के शिशुपालवध में देख सकते हैं। माघ का 'शिशुपालवध' संस्कृत के महाकाव्यपञ्चक में स्थान पाता है और 'शिशुपालवध' की रचना से 'माघ' संस्कृत के महाकवियों में प्रतिष्ठित हो चुके हैं।

महाकवि माघ और उनकी भारवि-काव्य की अनुहरण कला

सबसे पहले 'पदहरण' में माघ की कला देखिए। निम्नांकित सूक्ति महा-

---

१. वाल्मीकि रामायण।

२. भारवि : किरातार्जुनीय, सर्ग ३ १०।

३. राजशेखर : काव्यमीमांसा, ११ अध्याय।

कवि 'भारवि' के किरात-महाकाव्य के प्रथम सर्ग की प्रारम्भिक किन्तु परम-रमणीय सूक्ति है[1]—

श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं
प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम्।
स वर्णिलिंगी विदितः समाययौ
युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः ॥

महाकवि माघ के मन में यह सूक्ति इतनी रम गई कि वे इसे अपनी स्मृति से कभी अलग न कर सके और उन्होंने अपने काव्य 'शिशुपालवध' के प्रथम सर्ग के प्रथम श्लोक के प्रथम पद के रूप में इस सूक्ति के ही प्रथम पद को अपना लिया[2]—

श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगत्
जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि ।
वसन् ददर्शावतरन्तमम्बरात्
हिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः ॥

माघ ने किरात-काव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्त में भारवि द्वारा प्रयुक्त काव्यांक अथवा काव्य प्रत्यभिज्ञानरूप 'श्री' अथवा 'लक्ष्मी' पद का जो हरण अथवा स्वीकरण किया है उसमें भी वस्तुतः 'वाक्चौर्य' का दोष नहीं अपितु 'कवित्व' का ही गुण-माहात्म्य प्रतीत होता है। भारवि के किरात-काव्य के चतुर्थ सर्ग का अन्तिम श्लोक देखिए[3]—

तमतनुवनराजिश्यामितोपत्यकान्तं
नगमुपरि हिमानीगौरमासाद्य जिष्णुः।
व्यपगतमदरागस्यानुसस्मार लक्ष्मी-
मसितमधरवासो बिभ्रतः सीरपाणेः ॥

और इस श्लोक के काव्यांक 'लक्ष्मी' पद के पर्यायवाचक 'श्री' शब्द का स्वीकरण माघ के शिशुपालवध के चतुर्थ सर्ग के अन्तिम श्लोक में देखिए[4]—

अनुकृतशिखरौघश्रीभिरभ्यागतेऽसौ
त्वयि सरभसमभ्युत्तिष्ठतीवाद्रिरुच्चैः।
द्रुतमरुदुपनुन्नैरुन्नमद्भिः सहेलं
हलधरपरिधानश्यामलैरम्बुवाहैः ॥

---

१. भारवि : किरातार्जुनीय १.१। २. माघ : शिशुपालवध १.१।
३. किरातार्जुनीय ४.३८। ४. शिशुपालवध ४.६८।

भारवि के 'पद' के हरण में माघ के 'कवित्व' का एक और उदाहरण यह है। भारवि ने किरातार्जुनीय के तृतीय सर्ग में महर्षि व्यास का वर्णन प्रारम्भ करते हुए यह श्लोक-वाक्य रचा[1]—

ततः शरच्चन्द्रकराभिरामैरुत्सर्पिभिः प्रांशुमिवांशुजालैः।
बिभ्राणमानीलरुचं पिशंगीर्जटास्तडित्वन्तमिवाम्बुवाहम्॥

और माघ ने अपनी स्मृति में सुरक्षित भारवि के उपर्युक्त श्लोक-वाक्य के 'शरच्चन्द्रकराभिरामैः' पद को अपने शिशुपालवध के प्रथम सर्ग में महामुनि नारद के वर्णन में इस प्रकार अपनाया है[2]—

दधानमम्भोरुहकेसरद्युतीर्जटाः शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम्।
विपाकपिंगास्तुहिनस्थलीरुहो धराधरेन्द्रं व्रततीततीरिव॥

यहाँ एक बात ध्यान देने की है कि माघ ने भारवि के ऐसे किसी सूक्ति-पद अथवा श्लोक-चरण अथवा वर्णन-सौन्दर्य का कोई हरण नहीं किया जिस पर भारवि की कविप्रतिभा की छाप पड़ी हो। राजशेखर ने भी 'हरण' के सम्बन्ध मे यही कहा है कि किसी अन्य कवि के ऐसे पद अथवा पाद आदि का हरण वर्जनीय है जिस पर उसकी प्रतिभा का उन्मेष प्रतीत हो रहा हो[3] (उल्लेखवान् पदसन्दर्भः परिहरणीयः)। उदाहरण के लिए भारवि के व्यास वर्णन की इन अतिरमणीय काव्यात्मक सूक्तियों को देखिये[4]—

प्रसादलक्ष्मीं दधतं समग्रां वपुःप्रकर्षेण जनातिगेन।
प्रसह्य चेतःसु समासजन्तमसंस्तुतानामपि भावमार्द्रम्॥
अनुद्धताकारतया विविक्तां तन्वन्तमन्तःकरणस्य वृत्तिम्।
माधुर्यविस्रम्भविशेषभाजा कृतोपसंभाषमिवेक्षितेन॥
धर्मात्मजो धर्मनिबन्धिनीनां प्रसूतिमेनःप्रणुदां श्रुतीनाम्।
हेतुं तदभ्यागमने परीप्सुः सुखोपविष्टं मुनिमाबभाषे॥

ये सूक्तियां ऐसी हैं जिनमें भारवि का भाव-संरम्भ सर्वत्र अन्तर्व्याप्त है और जिनकी प्रसन्न गम्भीर पदयोजना पर भारवि की प्रतिभा की अमिट छाप पड़ी है। माघ ने किरातकाव्य की उपर्युक्त सूक्तियों की छाया का भी ग्रहण करना अपने 'कवित्व' के लिए अनुचित सोचा और इसलिए इन्हें अपने मन के

---

१. किरातार्जुनीय ३,१। २. शिशुपालवध १.५।
३. राजशेखर : काव्यमीमांसा ११ अध्याय।
४. भारवि : किरातार्जुनीय ३ सर्ग, २-३-४ श्लोक।

मन्दिर में प्रतिष्ठित रहने दिया और महामुनि नारद का वर्णन प्रकारान्तर से ही करना श्रेयस्कर माना। भारवि के व्यास-वर्णन के ही 'परितः पटु बिभ्रदेनसां दहनं धाम विलोकनक्षमम्' इस पद सन्दर्भ के प्रभाव में माघ ने यह सूक्ति रची जिसमें हरण अथवा स्वीकरण की कोई बात नहीं अपितु एक 'व्याख्यान' की विशेषता ही प्रतीत होती है[2]—

गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः।
पतत्यधोधाम विसारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः॥

'छन्दोहरण' अथवा 'वृत्त के अनुहरण' में भी माघ की मौलिकता की मात्रा में न्यूनता नहीं आती। भारवि ने 'किरातमहाकाव्य' के षष्ठ सर्ग की रचना आरम्भ से अन्ततक (अन्तिम श्लोक समाप्ति का श्लोक होने से पृथक् वृत्त में है) 'प्रमिताक्षरा' (प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता) वृत्त में की है। भारवि का 'प्रमिताक्षरबन्ध' देखिये[3]—

रुचिराकृतिः कनकसानुमयो परमः पुमानिव पतिं पतताम्।
धृतसत्पथस्त्रिपथगामभितः स तमारुरोह पुरुहूतसुतः॥

इस 'प्रमिताक्षरा बन्ध' के सौन्दर्य और माधुर्य से प्रेरित हो माघ ने भी अपने 'शिशुपालवध' के नवम सर्ग की रचना आदि से अन्त तक (समाप्ति के श्लोक चतुष्टय को छोड़कर) 'प्रमिताक्षरा' वृत्त में ही की। उदाहरण रूप में पहला ही श्लोक पर्याप्त है[4]—

अभितापसंपदमथोष्णरुचिर्निजतेजसामसहमान इव।
पयसि प्रपित्सुरपराम्बुनिधेरधिरोढुमस्तगिरिमभ्यपतत्॥

भारवि के प्रमिताक्षराबन्ध के इस अनुहरण में 'माघ' पर 'काव्यापहरण' का कोई दोष नहीं आता। भारवि की 'प्रमिताक्षरा' में अर्जुन के तपस्तेज का प्रतिफलन है और माघ की 'प्रमिताक्षरा' में 'सांध्यसुषमा' प्रतिबिम्बित हो रही है। दोनों प्रमिताक्षराबन्धों का अपना अपना व्यक्तित्व है। इसलिए भारवि के वृत्त के उपजीवन मात्र से माघ के कवित्व में कोई क्षति नहीं पहुँचती।

शब्द के अनुहरण के कतिपय प्रकार

राजशेखर का 'शब्द-हरण' विवेचन समसामयिक साहित्यिक प्रवृत्तियों पर बड़ा विशद प्रकाश डालता है। राजशेखर ने 'शब्दहरण' के एक ऐसे प्रकार का निरूपण किया है जिसमें भिन्न भिन्न अर्थवाले तीन श्लोक-वाक्यों से एक एक

---

१. वही २.५५। २. माघ : शिशुपालवध १.२।
३. भारवि : किरातार्जुनीय ६.१। ४. माघ : शिशुपालवध ९.१।

चरण के हरण और एक चरण के नव निर्माण में एक नवीन सूक्ति की सृष्टि दिखाई देती है। उदाहरण निम्नलिखित है[१]—

> किमिह किमपि दृष्टं स्थानमस्ति श्रुतं वा
> घनकपिलजटान्तर्भ्रान्तगंगाजलौघः ।
> निवसति स पिनाकी यत्र यायां तदस्मिन्
> हतविधिललितानां ही विचित्रो विपाकः ॥

यह उपर्युक्त श्लोक राजशेखर के समसामयिक काव्यप्रेमी समाज में नयी कृति के रूप मे ग्रहण किया गया प्रतीत होता है क्योंकि राजशेखर ने इसमें 'अपहरण' नहीं अपितु 'कवित्व' पाया है। वैसे इस 'नयी कृति' मे निम्नलिखित तीन श्लोकों के तीन चरणों का 'अपहरण' स्पष्ट दिखाई देता है। जैसे कि—

प्रथम श्लोक—

> किमिह किमपि दृष्टं स्थानमस्ति श्रुतं वा
> व्रजति दिनकरोऽयं यत्र नास्तं कदाचित्।
> भ्रमति विहगसार्थानित्थमापृच्छयमानो
> रजनि विरहभीतश्चक्रवाको वराकः ॥

द्वितीय श्लोक—

> जयति सितविलोलव्यालयज्ञोपवीती
> घनकपिलजटान्तर्भ्रान्तगंगाजलौघः ।
> अविदितमृगचिह्नामिन्दुलेखां दधानः
> परिणतशितिकण्ठश्यामकण्ठः पिनाकी ॥

तृतीय श्लोक—

> कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डं
> त्यजति मुदमूलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः।
> उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं
> हतविधिललितानां ही विचित्रो विपाकः ॥

अन्यकवि निबद्ध अर्थ का अनुहरण

अब हम राजशेखर के 'अर्थहरण' का विवेचन देखें। शब्दहरण की भाँति अर्थहरण भी, राजशेखर की दृष्टि में 'त्याज्य' और 'अनुग्राह्य' अथवा 'वांछनीय' और 'अवाञ्छनीय' भेद से दो प्रकार का है। अर्थ-हरण का अभिप्राय प्राचीन

---

१. राजशेखर : काव्यमीमांसा ११ अध्याय।

काव्यों के अर्थों का आहरण अथवा आकलन है। प्रत्येक देश के साहित्य में यह देखा जाता है कि प्राचीन कवियों के काव्यों में सभी काव्यार्थ सन्निविष्ट हैं। नये कवि को नये काव्यार्थ की खोज करनी पड़ती है। नये कवि को नया काव्यार्थ वस्तुत: प्राचीन काव्यार्थों के संस्कार द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। नया कवि, यदि वह प्रतिभासम्पन्न है तो प्राचीन कवियों की कृतियों से अपने अपेक्षित काव्यार्थ का 'हरण' करता है और इसे 'अपनी कल्पना' की तूलिका से नये रंग में रँगकर अपने काव्य में स्थान देता है। यह 'हरण' चोरण (चोरी) नहीं अपितु पूर्वकवि-प्रभाव अथवा पूर्वकाव्यच्छाया का ग्रहण है जिसे 'अनुहरण' शब्द से संकेतित करना उचित है। प्राचीन कवियों अथवा काव्यों की छाया में नये कवि की प्रतिभा-लता अंकुरित और पल्लवित और पुष्पित होती है। प्राचीन-काव्यप्रबन्धों का मनन-चिन्तन नये कवि के लिए एक 'सारस्वत दृष्टि' है। यह सारस्वत दृष्टि ही किसी कवि की दिव्य दृष्टि है जिसके बल पर वह प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष, सुदूर अथवा सन्निकृष्ट सभी प्रकार के अर्थों का स्वयं दर्शन करने में समर्थ हो जाता है। इसी की प्रक्रिया से किसी कवि के बुद्धिदर्पण में समस्त पद-पदार्थ प्रतिबिम्बित हुआ करते हैं और उसकी काव्य-रचना सफल हो जाती है।

इस अर्थहरण के विश्लेषण में राजशेखर ने 'त्रिपथ काव्यार्थ' का विश्लेषण किया है। काव्यार्थ का यह 'त्रिपथ' निम्नलिखित है[1]—

१. 'अन्ययोनि' काव्यार्थ।

२. 'निह्नुतयोनि' काव्यार्थ।

३. 'अयोनि' काव्यार्थ।

इनमें अन्तिम अथवा 'अयोनि' काव्यार्थ की रचना करने वाले कवि विरले ही होते हैं। ऐसा अर्थ जिसका प्रतिभास किसी भी प्राचीन कवि को न हो पाया हो अथवा ऐसा अर्थ निरूपण जैसा किसी भी प्राचीन काव्य में अप्राप्य हो वस्तुत: किसी नये कवि के लिए बड़े गौरव की बात होती है। इस 'अयोनि' रूप काव्यार्थ का उपनिबन्धन करने वाले कवियों में सर्वप्रथम वाल्मीकि हैं और दूसरे व्यास हैं। इसीलिये वाल्मीकि 'आदिकवि' माने जाते हैं और इसीलिये व्यास की कृति 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' का सर्वप्रथम निदर्शन मानी जाती है। इन दोनों ऋषि कवियों के बाद 'कविकुल-गुरु' कालिदास आते हैं जिनके काव्यार्थ प्राचीन होने पर भी नित्य नवीन हैं

---

१. राजशेखर : काव्यमीमांसा १२ अध्याय।

और सहृदयों के आकर्षण हैं। ऐसे 'अयोनि' काव्यार्थ के रचयिता कवि को राजशेखर ने 'चिन्तामणि' की उपाधि दी है[1]—

> चिन्तासमं यस्य रसैकसूतिरुदेति चित्राकृतिरर्थसार्थः।
> अदृष्टपूर्वो निपुणैः पुराणैः कविः स चिन्तामणिरद्वितीयः॥

अर्थात् उस महाकवि को 'चिन्तामणि' मानना चाहिये जो अपनी प्रतिभा से ऐसा सरस और सारगर्भित काव्य रच देता है जो प्राचीन कवियों के सामर्थ्य के परे प्रतीत हुआ करता है।

काव्य के अर्थानुहरण के रूप भेद : प्रतिबिम्बकल्प

पहला अथवा 'अन्ययोनि' नामक काव्यार्थ वह है जिसे राजशेखर ने इन दो रूप में देखा है[2]—

१. प्रतिबिम्बकल्प।

२. आलेख्यप्रख्य।

इनमें 'प्रतिबिम्बकल्प' काव्यार्थ वह है जिसमें प्राचीन काव्यार्थ से कोई वास्तविक भेद नहीं रहता, जो भी भिन्नता होती है वह केवल वाक्य-विन्यास की ही भिन्नता होती है। राजशेखर ने स्पष्ट कहा है—

> अर्थः स एव सर्वो वाक्यान्तरविरचनापरं यत्र।
> तदपरमार्थविभेदं काव्यं प्रतिबिम्बकल्पं स्यात्॥

अर्थात् वह काव्य 'प्रतिबिम्बकल्प' काव्य होता है जिसमें वाक्य-विरचना ही भिन्न प्रतीत होती है और अर्थ प्राचीन काव्य से ही लिया गया होता है।

'प्रतिबिम्बकल्प' काव्य की रचना करने वाला कवि ऐसा 'अनुकरण' करता है जिसका अनुमोदन नहीं किया जा सकता। ऐसी काव्य-रचना में कवि अपने वर्ण्य वस्तु अथवा विषय पर ध्यान नहीं रखता अपितु परकृत काव्य के पदन्यास तथा वाक्य-विन्यास पर ही दृष्टि गड़ाये रहता है। किसी कवि के सामने जब अपना कोई विषय न हो जिसके चिन्तन में वह समाहित हो सके और केवल किसी दूसरे कवि के श्लोक-वाक्य के समकक्ष श्लोक-वाक्य रचने में ही प्रवृत्ति हो तो 'वाक्य' भले ही नया बन जाये, 'काव्य' नया नहीं बन सकता। प्रतिबिम्ब के समान प्रतीत होने वाला काव्य 'काव्य' नहीं अपितु 'काव्य का आभास' कहा जाता है। राजशेखर का ही दिया ऐसे काव्याभास का एक उदाहरण देखिये[3]—

---

१. राजशेखर : काव्यमीमांसा १२ अध्याय।
२. वही। ३. वही।

पाकक्रियापरिचयप्रगुणीकृतेन संवर्गितारुणगुणं वपुषा निजेन।
आपादितस्थपुटसंस्थितिशोषपोषादेतद्वने विरसतां बदरं बिभर्ति॥

यह श्लोक एक पके, सूखे और सिकुड़े बेर के फल पर है। किन्तु इसकी रचना करने वाले के ध्यान में 'पके, सूखे और सिकुड़े बेर' का फल नहीं अपितु दूसरे का रचा निम्नलिखित सुन्दर श्लोक है—

पुरा पाण्डुप्रायं तदनु कपिशिम्ना कृतपदं
ततः पाकोद्रेकादरुणगुणसंवर्गितवपुः।
शनैः शोषारम्भे स्वपुटनिजविष्कम्भविषमं
वने वीतामोदं बदरमरसत्वं कलयति॥

यहाँ एक बात ध्यान देने की है कि जहाँ दूसरे श्लोक अर्थात् 'पुरा पाण्डुप्रायम्' आदि में कवि एक जंगली बेर के फल के स्वानुभूत स्वरूप और स्वभाव का पूरा वर्णन कर रहा है वहाँ पहले श्लोक अर्थात् 'पाकक्रियापरिचयप्रगुणीकृतेन' आदि का रचयिता उसके एक अंश अथवा खण्ड का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में लगा हुआ है। ऐसे प्रतिबिम्ब ग्रहण में राजशेखर ने 'खण्ड प्रतिबिम्बकल्पे' काव्यानुकरण का स्वरूप दिखाया है (बृहतोऽर्थस्यार्द्धप्रणयनं खण्डम्)।

इसी प्रकार 'प्रतिबिम्बकल्प' काव्य के अन्य भेद-प्रभेद जैसे कि 'व्यस्तक', 'तैलबिन्दु', 'नटनेपथ्य', 'छन्दोविनिमय', 'हेतुव्यत्यय', 'संघान्तक' तथा 'सम्पुट' भी दिखाई देते हैं। ये भेद-प्रभेद 'अनुकरण' की विविध विधाओं के परिणाम हैं। अनुकरण के इन आठ प्रकारों में 'काव्य' रचना नहीं दिखाई देती है। काव्य-रचना के अभ्यासकाल में ऐसे अनुकरण क्षम्य हो सकते हैं किन्तु ऐसे अनुकरणों के आधार पर रचा गया काव्य 'काव्य' नहीं हो सकता। ऐसे अनुकरण से कवि 'कवि' नहीं कहा जा सकता। जैसे अपना रूप दर्पण में प्रतिबिम्बित होने पर दूसरे का रूप नहीं हो जाता है वैसे ही एक श्लोक-वाक्य में वर्णित वस्तु दूसरे श्लोक-वाक्य में प्रतिबिम्बित होकर दूसरी नहीं मानी जा सकती है। इसीलिये राजशेखर ने ऐसे अनुकरण को अग्राह्य अथवा अवाञ्छनीय माना है[1]—

पृथक्त्वेन न गृह्णन्ति वस्तु काव्यान्तरस्थितम्।
पृथक्त्वेन न गृह्णन्ति स्ववपुः प्रतिबिम्बितम्॥

अन्ययोनि काव्यार्थ के इस 'प्रतिबिम्बकल्प' भेद की अपेक्षा दूसरे प्रकार का 'अन्ययोनि' काव्यार्थ वह है जो 'अनुग्राह्य' है। इस अनुग्राह्य अन्ययोनि काव्यार्थ का नाम 'आलेख्यप्रख्य' काव्यार्थ है। राजशेखर ने इसकी यह परिभाषा की है[2]—

१. वही १२।   २. वही १२।

कियताऽपि यत्र संस्कारकर्मणा वस्तु भिन्नवद् भाति ।

तत्कथितमर्थचतुरैरालेख्यप्रख्यमिति काव्यम् ॥

अर्थात् 'वह काव्य जिसमें अन्य कवि वर्णित अर्थ कुछ न कुछ नये ढंग से सजा-धजा प्रतीत होता है 'आलेख्य-प्रख्य' कहा जाता है ।'

आलेख्य-प्रख्य काव्य का रचयिता अनुकरण (नकल) नहीं करता अपितु अन्य कवि अथवा अन्य काव्य का छायानुहरण करता है। इस छायानुहरण में अन्य कवि वर्णित विषय का नया संस्कार हो जाया करता है जिसमें 'मौलिकता' की भांति 'अनुकृति' भी अपने पृथक् अस्तित्व में सुशोभित होती रहती है ।

आलेख्य-प्रख्य अर्थानुहरण और काव्यगत नवीनता

राजशेखर ने काव्य में इस प्रकार के अनुकरण के, आठ भेदों का परिगणन किया है । 'आलेख्य-प्रख्य' हरण अथवा अनुहरण का भेदाष्टक इस प्रकार है[1]—

१. समक्रम २. विभूषणमोष ३. व्युत्क्रम
४. विशेषोक्ति ५. उत्तंस ६. नटनेपथ्य
७. एकपरिकार्य ८. प्रत्यापत्ति

इस 'भेदाष्टक' के सम्बन्ध में राजशेखर ने स्पष्ट कहा है कि यह हरण-प्रकार अनुग्राह्य है[2]—

सोऽयमनुग्राह्यो मार्गः—

आहुश्च—सोऽयं भणितिवैचित्र्यात्समस्तो वस्तुविस्तरः ।

नटवद्वर्णिकायोगादन्यथात्वमिवार्च्छति ॥

अर्थात् 'आलेख्य-प्रख्य' काव्यार्थ इसलिए उपादेय अथवा वाञ्छनीय है क्योंकि इसमें उक्ति-वैचित्र्य रहा करता है जिसकी महिमा से प्राचीन काव्यार्थ नवीन सा प्रतीत हुआ करता है । जैसे कि नट का एक ही व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न भूमिका-ग्रहण के कारण विविध अथवा क्षण-क्षण नवीन दिखाई दिया करता है वैसे ही एक ही काव्यार्थ, उक्ति की विचित्रता से विविध रूप में सहृदयों का आकर्षण किया करता है ।

इस 'अनुहरण' प्रकार का एक उदाहरण देखिये[3]—

दीपयन्नथ नभः किरणौघैः कुंकुमारुणपयोधरगौरः ।

हेमकुम्भ इव पूर्वपयोधेरुन्ममज्ज शनकैस्तुहिनांशुः ॥

---

१. वही १३ । २. वही १३ ।

३. भारवि : किरातार्जुनीय ९. २३ ।

यह सूक्ति महाकवि भारवि के किरातार्जुनीय की है। इसमें महाकवि ने उदयकालीन चन्द्रमा के दृश्य का वर्णन किया है। यहां महाकवि उत्प्रेक्षा करता है कि किसी कामिनी के कुंकुमचर्चित पयोधर की भांति शुभ्रवर्ण चन्द्रमा अपनी किरणों से आकाश को आलोकित कर रहा है। और पूर्वसागर से बाहर निकलते ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो स्वर्णकलश हो। इस सूक्ति में वर्णित चन्द्रमा के सुन्दर दृश्य की छाया का ग्रहण राजशेखर द्वारा उद्धृत निम्नलिखित सूक्ति में देखिये[1] —

ततस्तमःश्यामलपट्टकञ्चुकं विपाटयत् किञ्चिददृश्यतान्तरा।
निशातरुण्याः स्थितशेषकुंकुमस्तनाभिरामं शकलं कलावतः॥

यह सूक्ति भारवि की उपर्युक्त सूक्ति के अनुहरण में रची हुई है। भारवि की चन्द्र-वर्णन सूक्ति और इस सूक्ति में बिम्ब और प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध नहीं अपितु प्राचीन और नवीन दो चित्रकारों द्वारा चित्रित एक विषय के चित्र का सा सम्बन्ध है। भारवि की सूक्ति में कामिनी के कुंकुमचर्चित स्तनमण्डल के समान गौरवर्ण चन्द्रमण्डल के अभिप्राय की प्रधानता है और भारवि की सूक्ति का छायाग्रहण करने वाली सूक्ति 'चन्द्रमण्डल में कुंकुमचर्चित स्तनमण्डल की अभिरामता' के अभिप्राय पर रची हुई है। भारवि ने चन्द्रमण्डल को 'विशेष्य' अथवा प्रधानरूप से रखकर, अपनी सूक्ति रची है और भारवि का अनुगमन करने वाले कवि ने 'विशेषण' अथवा चन्द्रबिम्ब की कुंकुमचर्चित स्तन की सी अभिरामता को प्रधान रूप से निरूपित किया है। राजशेखर ने इस प्रकार के अर्थ-हरण को 'उत्तंस' कहा है (उपसर्जनस्यार्थस्य प्रधानतायामुत्तंसः)। ऐसे अपहरण में चोरी नहीं और न 'नकल' होती है। ऐसा अर्थ-हरण काव्य-साहित्य की सीमा के विस्तार में उपयुक्त होता है।

महाकवि माघ के 'शिशुपालवध' के अनेकानेक काव्यात्मक प्रसंग भारवि के 'किरातार्जुनीय' की सूक्तियों की तुलना में 'आलेख्य-प्रख्य' प्रतीत होते हैं। किन्तु भारवि का काव्यक्षेत्र जैसे अपना पृथक् अस्तित्व रखता है वैसे ही माघ का काव्यक्षेत्र भी अपने पृथक् अस्तित्व में ही सुशोभित होता है। उदाहरण के लिए भारवि की नीचे लिखी सूक्ति देखिये[2]—

रञ्जिता नु विविधास्तरुशैला नामितं नु गगनं स्थगितं नु।
पूरिता नु विषमेषु धरित्री संहृता नु ककुभस्तिमिरेण॥

---

१. राजशेखर : काव्यमीमांसा १३ अध्याय।

२. भारवि : किरातार्जुनीय ९.१५।

इस सूक्ति में सायंकालीन अन्धकार के दृश्य का उत्प्रेक्षापूर्ण वर्णन है। इस सूक्ति के अनुहरण में लिखी महाकवि माघ की ये सूक्तियां हैं[1]—

व्यसरन्नु भूधरगुहान्तरतः पटलं बहिर्बहलपंकरुचि ।
दिवसावसानपटुनस्तमसो बहिरेत्य चाधिकमभक्त गुहाः ॥
किमलम्बताम्बरविलग्नमधः किमवर्धतोर्ध्वमवनीतलतः ।
विससार तिर्यगथ दिग्भ्य इति प्रचुरीभवन्न निरधारि तमः ॥

इन सूक्तियों में भी 'सायंकालीन अन्धकार' का ही दृश्य वर्णित है। भारवि की सूक्ति में अपनी 'भंगीभणिति' (उक्ति की विचित्रता) है और माघ की सूक्तियों में अपनी उक्तिवक्रता। इस प्रकार का अर्थहरण राजशेखर के शब्दों में 'नटनेपथ्य' (तदेव वस्तूक्तिवशादन्यथा क्रियत इति नटनेपथ्यम्) कहा जाता है। भारवि की सूक्ति 'मौलिक' है और माघ की सूक्तियां 'अनुकरण' हैं यह कहना अनुचित है क्योंकि भारवि की सूक्ति में भी महाकवि शूद्रक की निम्न-लिखित सूक्ति का 'अनुहरण' झलक रहा है[2]—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥

काव्य में तुल्यदेहितुल्य अर्थानुहरण

इस आलेख्य-प्रख्य अर्थहरण के अतिरिक्त एक और प्रकार के अर्थहरण का विश्लेषण राजशेखर ने किया है जिसका नाम 'तुल्यदेहितुल्य' है। वस्तुतः कविजन की काव्य रचनात्मक प्रवृत्तियों का परिगणन असम्भव है। राजशेखर ने 'प्रतिबिम्बकल्प' तथा 'आलेख्यप्रख्य' अर्थहरण के आठ-आठ भेदों की भांति 'तुल्यदेहितुल्य' अर्थहरण के भी आठ प्रकार बताये हैं। कवियों की रचनात्मक प्रवृत्तियों का यह परिभाषा-विधान केवल एक उपलक्षण के रूप में ही मानना उचित है क्योंकि इसमें 'काव्य में अनुहरण' के विषय की इतिश्री नहीं की गई और न 'काव्य में अनुहरण' के प्रकार भेद की इयत्ता ही है। यह सब कवियों की काव्यनिर्माण की प्रवृत्तियों की रूपरेखाओं का एक दिग्दर्शन-मात्र है। राजशेखर के शब्दों में 'तुल्यदेहितुल्य' अनुहरण का स्वरूप यह है[3]—

विषयस्य यत्र भेदेऽप्यभेदबुद्धिर्नितान्तसादृश्यात् ।
तत्तुल्यदेहितुल्यं काव्यं बध्नन्ति सुधियोऽपि ॥

---

१. माघ : शिशुपालवध ९.१९,२० ।

२. शूद्रक : मृच्छकटिक ।

३. राजशेखर : काव्यमीमांसा १२ अध्याय ।

अर्थात् वह काव्य 'तुल्यदेहितुल्य' मानना चाहिये जिसमें विषय वस्तुतः भिन्न हो किन्तु जो सादृश्य की महिमा से किसी अन्य काव्य से अभिन्न सा प्रतीत हो। तात्पर्य यह है कि दो काव्य विषय की दृष्टि से परस्पर भिन्न होने पर भी अभिन्न से लग सकते हैं। दोनों काव्यों का व्यक्तित्व परस्पर भिन्न है किन्तु दोनों में सादृश्य के कारण अभेद का आभास सम्भव है। ऐसा अनुहरण वस्तुतः श्लाघनीय है। ऐसे अनुहरण से काव्य-साहित्य की श्रीवृद्धि होती है। राजशेखर ने निम्नांकित सूक्ति-सन्दर्भ को इस 'अर्थानुहरण' के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है[1]—

वियति विसर्पतीव कुमुदेषु बहुभवतीव योषितां
प्रतिफलतीव जरठशरकाण्डपाण्डुषु गण्डभित्तिषु ॥
अम्भसि विकसतीव लसतीव सुधाधवलेषु धामसु
ध्वजपटपल्लवेषु ललतीव समीरचलेषु चन्द्रिका ॥
स्फटिकमणिघट इवेन्दुस्तस्यामपिधानमाननमिवांकः।
चरति चिरं येन यथा ज्योत्स्ना घनसारधूलिरिव ॥
सितमणिकलशादिन्दोर्हरिणहरित्तृणपिधानतो गलितैः।
रजनिभुजिष्या सिञ्चति नभोऽङ्गणं चन्द्रिकाम्भोभिः ॥

इस सूक्ति-सन्दर्भ में जिस सूक्ति का अनुहरण है वह निम्नलिखित है[2]—

विशिखामुखेषु विसरति पुञ्जीभवतीव सौधशिखरेषु।
कुमुदाकारेषु विकसति शशिकलशपरिस्रुता ज्योत्स्ना ॥

यहां यह स्पष्ट है कि 'विशिखामुखेषु' आदि सूक्ति और 'वियति विसर्पतीव' आदि सूक्ति-सन्दर्भ के व्यक्तित्व परस्पर भिन्न हैं क्योंकि 'विशिखामुखेषु' आदि सूक्ति अन्य प्रसंग की है और 'वियति विसर्पतीव' आदि सूक्ति-सन्दर्भ का प्रसग अन्य है। 'विशिखामुखेषु' आदि सूक्ति में 'चन्द्रमारूपी चांदी के घड़े से बहती चांदनी की जलधारा' का अर्थ एक 'कन्द' की भाँति निहित है और 'वियति विसर्पतीव' आदि सूक्ति-सन्दर्भ में यह कन्दभूत अर्थ अनेकों छोटे-बड़े अंकुरों में प्रस्फुटित हो उठा है। 'चन्द्रमारूपी चांदी के घड़े से बहती चांदनी की जलधारा' के कन्दभूत अर्थ के पोषक और संवर्धक कन्दल अथवा अंकुररूप अर्थ ये हैं जैसे कि 'चन्द्रघट से बहने वाली चन्द्रिका

---

१. वही १३। २. वही १३।

का व्योमफलक पर फैलाव, कुमुदवन में उसकी सघनता, कामिनियों के पाण्डुवर्ण कपोलमण्डलों पर उसका प्रतिफलन, सलिलराशि पर कुमुदवन की भांति उसका खिल उठना, सुधाधवलित भवनों पर उसका लास्य और ऊंचे-ऊंचे प्रासादों पर फहराती पताकाओं पर खेल खेलने के लिए उसका मचल उठना आदि।' जैसे 'कन्द' और 'कन्दल' (अंकुर) परस्पर भिन्न होते हैं वैसे ही 'विशिखामुखेषु' आदि सूक्ति का कन्दरूप अर्थ 'वियति विसर्पतीव' आदि सूक्ति-सन्दर्भ में 'कन्दल' (अंकुर) रूप अर्थों से भिन्न ही है। किन्तु दोनों में एक सादृश्य है और वह सादृश्य शशि की 'कलश' रूप में कल्पना का सादृश्य है। यहां अनुकरण (नकल) अथवा 'कविता' में चोरी की कोई बात नहीं। 'विशिखामुखेषु' आदि सूक्ति के भी रचयिता की स्मृति में सोयी हुई जैसे महाकवि भारवि की यह निम्नलिखित चन्द्रसूक्ति जाग रही है[1]—

संविधातुमभिषेकमुदासे मन्मथस्य लसदंशुजलौघः।
यामिनीवनितया ततचिह्नः सोत्पलो रजतकुम्भ इवेन्दुः॥

वैसे ही 'वियति विसर्पतीव' आदि सूक्ति-सन्दर्भ के कलाकार कवि की स्मृति में 'विशिखामुखेषु' आदि सूक्ति उभर रही है। राजशेखर ने ऐसे 'तुल्यदेहितुल्य' काव्यार्थ के और भी प्रकार जैसे कि १. विषयपरिवर्त्त, २. द्वन्द्वविच्छित्ति, ३. रत्नमाला, ४. संख्योल्लेख, ५. चूलिका, ६. विधानापहार, ७. माणिक्य-पुञ्ज गिनाये हैं। यहां इनके पृथक्-पृथक् स्वरूपविमर्श और उदाहरण प्रदर्शन की कोई अपेक्षा अथवा आवश्यकता नहीं है। यहां 'काव्य में अभिप्रेत तथा अनुमोदनीय' अर्थहरण के सिद्धान्त का ही विमर्श अपेक्षित है। राजशेखर ने 'तुल्यदेहितुल्य' रूप के अर्थहरग की बड़ी प्रशंसा की है[2]—

सरस्वती सा जयति प्रकामं देवी श्रुतिः स्वस्त्ययनं कवीनाम्।
अनर्घतामानयति स्वभंग्या योल्लिख्य यत्किंचिदिहार्थरत्नम्॥

इस प्रशंसा में तत्वार्थ यह है कि प्रतिभासम्पन्न कवि के द्वारा किया गया 'अनुहरण' मौलिक सृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं होता। कवि-प्रतिभा सर्वजन-साधारण शब्द और अर्थ और उनकी योजना में भी एक विचित्रता अथवा विलक्षणता उत्पन्न कर देती है। कवि के लिए उसकी प्रतिभा ही वस्तुतः 'देवी सरस्वती' है जिसकी उपासना से उसकी कृति सफल हो जाती है।

---

१. भारवि : किरातार्जुनीय ९.३२।

२. राजशेखर : काव्यमीमांसा १३ अध्याय।

काव्य में परपुरप्रवेशप्रतिम अर्थानुहरण

अर्थहरण के उपर्युक्त तृतीय प्रकार के अतिरिक्त एक और भी प्रकार है जिसे 'राजशेखर' ने 'परपुरप्रवेशप्रतिम' कहा है। इस चतुर्थ प्रकार का स्वरूप राजशेखर के अनुसार यह है[१]—

मूलैक्यं यत्र भवेत् परिकरबन्धस्तु दूरतोऽनेकः।
तत् परपुरप्रवेशप्रतिमं काव्यं सुकविभाव्यम्॥

अर्थात् 'परपुरप्रवेशप्रतिम' काव्य वह है जिसमें मूलतः एकता और रचनात्मक भिन्नरूपता—दोनों विशेषतायें विराजमान रहती हैं। यह 'अनुहरण' प्रकार भी राजशेखर के अनुसार १. हुड्डयुद्ध, २. प्रतिकञ्चुक, ३. वस्तुसञ्चार, ४. धातुवाद, ५. सत्कार, ६. जावञ्जीवक, ७. भावमुद्रा, ८. तद्विरोधी, इन आठ अवान्तर भेदों वाला होता है। राजशेखर ने इन भेद-प्रभेदों के लक्षण और उदाहरण भी दिये हैं। राजशेखर के दिये लक्षणों और उदाहरणों के देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह अनुहरण प्रकार भी काव्य-साहित्य के भाण्डार की अभिवृद्धि का एक प्रधान कारण है। अनुहरण के प्रायः सभी प्रकार, जिनकी संख्या राजशेखर की काव्यमीमांसा में ३२ है, काव्य की श्री-वृद्धि के लिए उपादेय हैं। राजशेखर ने स्पष्ट कहा है[२]—

इत्यर्थहरणोपाया द्वात्रिंशदुपदर्शिताः।
हानोपादानविज्ञाने कवित्वं तत्र मां प्रति॥

अर्थात् 'अर्थहरण' के जो ३२ भेद-प्रभेद प्रतिपादित किये गये हैं उनमें जिनके द्वारा कवि की प्रतिभा अधिकाधिक विकसित होती है और उसकी कृति में कुछ नवीनता और कुछ विशेषता प्रतीत होती है वे सब उपादेय हैं। इनके अतिरिक्त हेय अनुहरण वह है जिसमें कवि की कविता नहीं अपितु कविता का प्रदर्शन हुआ करता है। यही वस्तुतः अनुकरण (नकल) है जिसके कारण सुकवि का सुयश नहीं अपितु कुकवि का कुयश मिलता है।

महाकवि भारवि की एक काव्यसूक्ति देखिये, जिसमें राजशेखर द्वारा प्रतिपादित 'अनुग्राह्य अनुहरण' की रूपरेखा स्पष्ट प्रतीत हो रही है[३]—

कान्तानां कृतपुलकः स्तनांगरागे वक्त्रेषु च्युततिलकेषु मौक्तिकाभः।
सम्पेदे श्रमसलिलोद्गमो विभूषां रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोति॥

---

१. वही। २. वही।
३. भारवि : किरातार्जुनीय ७ ५।

महाकवि भारवि की यह सूक्ति कविकुलगुरु कालिदास की निम्नलिखित सूक्ति से प्रभावित है[1]—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

किन्तु दोनों महाकवियों की सूक्तियां काव्य की कसौटी पर अपने-अपने विशिष्ट सौन्दर्य में खरी निकल जाती हैं। महाकवि कालिदास ने नारी सौन्दर्य की 'आदिसृष्टि' और 'अनुपम सृष्टि' शकुन्तला को लक्ष्य में रखकर सुन्दरता के सामान्य, सार्वभौम अथवा सार्वकालिक स्वभाव पर कविता की है और भारवि ने कालिदास की इस कविता की भावना और इसके भावनाजन्य आनन्द के उद्रेक में रमणी सामान्य की रमणीयता को अपनी कविता का विषय बनाया है। राजशेखर की अनुहरण मीमांसा की दृष्टि में महाकवि भारवि की सूक्ति 'परपुरप्रवेशकल्प' काव्य सूक्ति कही जायेगी क्योंकि यहाँ मूलतः सौन्दर्यरूप वर्ण्यवस्तु तो एक ही है किन्तु कालिदास की सूक्ति की तुलना में भारवि की सूक्ति का रचनावैशिष्ट्य सर्वथा भिन्न है। राजशेखर के अनुसार यहाँ सत्कार नाम 'परपुरप्रवेशकल्प' काव्य का भेद परिलक्षित होता है। 'सत्कार' की परिभाषा यह है[2]—

तस्यैव वस्तुनः उत्कर्षेणान्यथाकरणं सत्कारः।

अर्थात् एक ही वर्ण्य-वस्तु में किसी उत्कर्ष के संचार से विशेषता का आधान 'सत्कार' है। महाकवि कालिदास ने 'वल्कलवसन' के कारण शकुन्तला के अनुपम रूप की मनोहारिता का उल्लेख किया है और भारवि ने 'श्रमसलिल' (पसीने) से नारी सौन्दर्य की हृदयहारिता की अभिव्यञ्जना की है।

नवीन काव्य के उद्भव और विकास में अनुहरण की उपयोगिता

राजशेखर की 'काव्य में अनुहरण' समीक्षा का निष्कर्ष वस्तुतः यह है कि काव्यजगत् में सर्वथा नवीन अथवा अभूतपूर्व कोई सृष्टि नहीं होती। पुराने कवियों ने जो उद्भावनायें की हैं उनसे सर्वथा विलक्षण उद्भावना करने पर ही कोई 'सुकवि' कहा जाये, ऐसी कोई बात नहीं। प्राचीन कवियों की काव्यकृतियों के मनन-चिन्तन में ही नवीन काव्य की सृष्टि का रहस्य छिपा रहता है।

---

१. कालिदास : अभिज्ञानशाकुन्तल १।
२. राजशेखर : काव्यमीमांसा १३ अध्याय।

प्राचीन काव्य की भावना और रसानुभूति ही नवीन कवि के लिए 'सारस्वत चक्षु' है जिसके बल पर वह अपने काव्य की कल्पना और रचना करने में समर्थ होता है। वस्तुतः काव्यजगत् में 'प्राचीन' और 'नवीन' सृष्टि का कोई द्वैधीभाव अथवा वैषम्य नहीं दिखाई देता। जबसे संसार है तबसे ही कविजन अपने-अपने लिए रात-दिन शब्द और अर्थ की सम्पत्ति का संचय करने में लगे हैं किन्तु वाणी की देवी का कोश अभी भी पूर्ववत् ही अक्षय बना हुआ है। कवियों में 'अनुहरण' की प्रवृत्ति यदि न होती तो सम्भवतः रामायण और महाभारत के बाद कोई भी काव्य न रचा गया होता। काव्य का निर्माण और महासागर का संतरण दोनों एक समान दुष्कर हैं। जैसे बिना पोतयन्त्र (जहाज) के महासागर का संतरण असम्भव है वैसे ही प्राचीन काव्यों की रीति, प्राचीन काव्यों के रसभाव, प्राचीन काव्यों की शब्दार्थ-योजना अथवा प्राचीन काव्यों की सूक्तियों के अनुशीलन के बिना नये काव्य की रचना भी असम्भव है।

नवीन काव्यसृष्टि के लिए प्राचीन काव्य की उर्वर भूमि नितान्त अपेक्षित है। जैसे मधुमक्षिका फूलों से रस सञ्चय के बिना मधुकोश नहीं बना सकती है, वैसे ही कवि भी अपने पूर्ववर्ती अथवा समकालीन काव्य से रस-संग्रह के बिना 'काव्य' नहीं रच सकता। अपने काव्य में यदि कवि किसी अन्य कवि के काव्य का अनुहरण करता है तो इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वह कुछ चोरी करता है। 'कविता में चोरी' और अनुहरण सर्वथा भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ हैं। यदि 'अनुहरण' को भी चोरी माना जाय तो कोई ऐसा कवि नहीं जो 'अनुहरण' न करता हो और इस नाते 'चोर' न हो—

नास्त्यचौरः कविजनः।[1]

आंग्ल भाषा के महाकवि शेक्सपियर की सूक्ति का भी यही अभिप्राय है[2]—

'The sun's a thief , and with his great attraction,
Robs the Vast sea; the moon's an arrant thief,
And her pale fire she snatches from the sun;
The sea's a thief; when liquid surge resolves,
The moon into salt tears; the earth's a thief,
That feeds and breeds by a comp osture stolen,

१. राजशेखर : काव्यमीमांसा ११ अध्याय।
२. Shakespeare : Timen of Athens.

From general excrement; each thing's a thief ;
The laws, your curb and whip, in their rough power,
Have unchecked theft.'

काव्य में 'अनुहरण' जीवन के एक सामान्य सिद्धान्त का अनुवर्त्तन है। यह विकार नहीं अपितु स्वभाव है। विकार तो वह है जिसे कविता में 'चोरी' कहते हैं। चोरी से की गई कविता और अनुहरण से उद्भावित काव्य सृष्टि भिन्न-भिन्न सृष्टि है। कविता में चोरी निन्दनीय है, 'अनुहरण' नहीं। दोनों को काव्य के उद्भव और विकास का एक समान कारण मानना मूढ़ता है[1]—

इदं महाहासकरं विचेष्टितं परोक्तिपाटच्चरतारतोऽपि यत्।
सदुक्तिरत्नाकरतां गतान् कवीन् कवित्वमात्रेण समेन निन्दति ॥



१. राजशेखर : काव्यमीमांसा १० अध्याय।

काव्य में अनुहरण पर क्षेमेन्द्र का सिद्धान्त

क्षेमेन्द्र (१०वीं शताब्दी) के औचित्यवाद में काव्यगत मौलिकता तथा अनुहरण पर भी पूरा प्रकाश डाला गया है। मौलिकता तथा अनुहरण में 'औचित्य' की दृष्टि ही निर्णायक होती है। 'औचित्य' के अभाव में मौलिक कृतियों की भी मौलिकता नष्ट हो जाती है। साथ ही साथ अनुहरण की त्याज्यता तथा ग्राह्यता में भी औचित्य ही नियामक होता है। इस औचित्य को दृष्टि में रखकर, क्षेमेन्द्र ने, जैसा कि उनके 'कविकण्ठाभरण' से स्पष्ट है, काव्य में अनुहरण की कतिपय दिशाओं का दर्शन कराया है। क्षेमेन्द्र ने कवियों के लिए, काव्य रचना की जो शिक्षाएँ दी हैं उनमें 'अनुहरण' की भी उपयोगिता स्पष्ट है। 'काव्य के समुद्भव के लिए काव्य-साहित्य के मर्मज्ञ का सान्निध्य लाभ करना आवश्यक है', 'जो-जो काव्य मधुर अथवा मनोरम प्रतीत हों, उनके श्रवण-मनन में दत्तचित्त रहना चाहिये', 'काव्य चमत्कार उत्पन्न करने वाली शब्दार्थ योजनाओं में अभिरुचि रखना उचित है', आदि-आदि कवि-शिक्षाओं में अनुहरण की कला की भी शिक्षा के सूत्र निहित हैं। क्षेमेन्द्र ने यहाँ तक कहा है कि नई-नई काव्य सूक्तियों की रचना के लिए महाकवियों के पदों अथवा श्लोकचरणों की पूर्ति का सम्यक् अभ्यास करना अत्यावश्यक है[1]—

महाकवेः काव्यनवक्रियायै तदेकचित्तः परिचारकः स्यात्।
पदे च पादे च पदावशेषसम्पूरणेच्छां मुहुराददीत॥

काव्यानुहरण के रूप भेद

क्षेमेन्द्र के अनुसार काव्य में अनुहरण के निम्नलिखित प्रकार हैं[2]—

छायोपजीवी पदकोपजीवी पादोपजीवी सकलोपजीवी।
भवेदथ प्राप्तकवित्वजीवी स्वोन्मेषतो वा भुवनोपजीव्यः॥

अर्थात् जो कवि अलौकिक प्रतिभा के धनी होते हैं, जैसे कि महर्षि व्यास, उनकी बात कुछ और है क्योंकि वे तो अपनी प्रतिभा के उन्मेष से सबके लिए अनुहरणीय हो जाते हैं। ऐसे कवि 'भुवनोपजीव्य' होते हैं। किन्तु

---

१. कविकण्ठाभरण १.२०।   २. वही २.१।

ऐसे कवि कितने हैं ? कवि प्रतिभा की कुछ न कुछ मात्रा उन सभी में होती है जिनमें काव्य-रचना की इच्छा जाग जाती है। ऐसे लोगों की प्रतिभा के विकास के लिए 'अनुहरण' एक अत्यन्त आवश्यक काव्य कौशल है। यह अनुहरण निम्नलिखित रूपों में देखा जाया करता है—

१. छायानुहरण (छायोपजीवन)
२. पदानुहरण (पदोपजीवन)
३. पादानुहरण (पादोपजीवन)
४. सकलानुहरण (सकलोपजीवन)

छायानुहरण

'छायानुहरण' क्या है ? इसके स्पष्टीकरण के लिए क्षेमेन्द्र ने 'भल्लटशतक' की निम्नलिखित सूक्ति उद्धृत की है[1]—

नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट
केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा ।
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ
कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम् ॥

'भल्लट' अपने युग (९वीं शताब्दी) के कश्मीर के एक महाकवि हो चुके हैं। इनकी रचनाओं में एक 'शतक' ही उपलब्ध है किन्तु संस्कृत के आलंकारिक भल्लट के कवित्व से मुग्ध प्रतीत होते हैं क्योंकि भल्लट की सूक्तियाँ काव्यात्मक तत्वों के निदर्शनरूप में अलंकारशास्त्र में उद्धृत की गई हैं। भल्लट की ऊपर उद्धृत सूक्ति का छायाग्रहण महाशैव दार्शनिक और कवि श्री उत्पलाचार्य (९वीं–१० वीं शती) की निम्नलिखित सूक्ति में देखिये[2]—

मात्सर्यतीव्रतिमिरावृतदृष्टयो ये ते कस्य नाम न खला व्यथयन्ति चेतः ।
मन्ये विमुच्य गलकन्दलमिन्दुमौलेर्येषां सदा वचसि वल्गति कालकूटः ॥

यहां यह स्पष्ट है कि कवि उत्पलदेव ने भल्लट की उपर्युक्त सूक्ति की छाया का उपजीवन किया है किन्तु इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये क्योंकि दोनों काव्य सूक्तियां अपना-अपना पृथक्-पृथक् भी अस्तित्व रखती हैं। भल्लट की सूक्ति में 'पर्याय अलंकार' का बन्ध है और उत्पलाचार्य की सूक्ति 'रूपक' और 'उत्प्रेक्षा' की संवलित शोभा से मण्डित है।

'छायाग्रहण' अथवा 'छायोपजीवन' मे काव्य की नवीन सृष्टि के उदाहरण

---

१. वही २.१ । २. वही २.१ ।

क्षेमेन्द्र के काव्यग्रन्थों में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। क्षेमेन्द्र की रचना 'भारत-मंजरी' देखिये जिसमें उन्होंने महाभारत का काव्यरूप में संक्षेप किया है। इस 'भारतमंजरी' की सहस्रों सूक्तियां कालिदास, भवभूति, भारवि आदि-आदि महाकवियों की सूक्तियों के छायाग्रहण में निकली दिखाई देती हैं। जैसे कि 'भारतमंजरी' की निम्नलिखित सूक्ति देखिये[१]—

स कदाचिद् वनं धन्वी विवेश मृगयारसात्।
ललनातुल्यनयनांस्तर्जयन्निषुभिर्मृगान्॥

इसमें महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल की निम्नोद्धृत सूक्ति की छाया झलक रही है[२]—

न नमयितुमधिज्यमस्मि शक्तो 'धनुरिदमाहितसायकं मृगेषु।
सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः॥

यहां कालिदास ने मृगयाविहारी दुष्यन्त के वर्णन में यह उल्लेख किया है कि शकुन्तला की मुग्ध, मधुर दृष्टि की शोभा के स्मरण के कारण दुष्यन्त के बाण हरिणों पर नहीं चलते। क्षेमेन्द्र को यह सूक्ति बहुत प्रिय लगी होगी। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने भारतमंजरी की उपर्युक्त सूक्ति में, कालिदास की सूक्ति की स्मृति सुरक्षित रक्खी है।

निम्नलिखित सूक्ति देखिये जो कि भारतमंजरी की ही है[३]—

तां यौवनवसन्ताढ्यां स्तनस्तबकबन्धुराम्।
शृंगारमारुताधूतां स्फुरिताधरपल्लवाम्॥
उपस्यमाधवोद्यानमाधवीपुलकांकुराम्।
चुचुम्ब राजमधुपः स्मितच्छविमधुच्छटाम्॥

इस सूक्ति में सुन्दर रूपक बन्ध पर ध्यान दीजिये। यह रूपक बन्ध महाकवि कालिदास की निम्नलिखित सूक्तियों की प्रेरणा का परिणाम है[४]—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमंगेषु सन्नद्धम्॥
चलापांगां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।

---

१. भारतमञ्जरी : आदिपर्व : शाकुन्तलपर्व २२९।
२. अभिज्ञानशाकुन्तल २.३।
३. भारतमञ्जरी : आदिपर्व : शाकुन्तलपर्व २५४.२५५।
४. अभिज्ञानशाकुन्तल ५.२२।

करौ व्याधुन्वन्त्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥

कालिदास की उपर्युक्त सूक्तियों में, शकुन्तला में खिली लता की कल्पना तथा उसके देखने वालों में मधुप की भावना स्पष्ट परिलक्षित होती है। क्षेमेन्द्र ने इस कल्पना और भावना को मिलाकर भारतमंजरी के शाकुन्तलपर्व में, शकुन्तला का एक नया चित्र चित्रित किया है।

इसी भांति अभिज्ञानशाकुन्तल में शकुन्तला की यह उक्ति देखिये[1]—

'अणज्ज ! अत्तणो हिअआणुमाणेण पेक्खसि। को दाणिं अण्णो धम्मकञ्चुअप्पवेसिणो तिणच्छण्णकूवोवमस्स तव अणुकिदिं पडिवदिस्सदि ?

(अनार्य ! आत्मनो हृदयानुमानेन पश्यसि। क्व इदानीमन्यो धर्मकञ्चुकप्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते ?)

अभिज्ञानशाकुन्तल की यह उक्ति 'भारतमञ्जरी' के शाकुन्तलपर्व की निम्नलिखित सूक्ति के मूल में पड़ी दिखाई देती है[2]—

स्नेहस्यायतनं पूर्वं पश्चाद् दाक्षिण्यभाजनम्।
नैवार्हन्ति परित्यागं माननीया हि योषितः ॥

क्षेमेन्द्र ने कालिदास से यहां किसी पद पदार्थ का ग्रहण नहीं किया है अपितु शकुन्तला की उक्ति को ही अपनी काव्यात्मक सूक्ति के रंग में रँग कर अपने 'शाकुन्तलपर्व' के इस प्रसंग को सुन्दर बना दिया है।

महाकवि भवभूति के 'उत्तररामचरित' की निम्नलिखित सूक्ति से संस्कृत के पाठक पूर्णतया परिचित हैं[3]—

ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥

इस सूक्ति के भाव रहस्य की छाया के अनुहरण में क्षेमेन्द्र की यह सूक्ति देखिये[4]—

मुनीनां हि गिरा स्थितिः।

यहाँ 'काव्यापहार' का प्रश्न नहीं उठता अपितु 'छायोपजीवन' की कला के प्रयोग और उपयोग से काव्यगत मौलिकता के अभिनव रूपों का प्रकाशन दिखाई देता है।

पदानुहरण

क्षेमेन्द्र ने पदानुहरण अथवा पदोपजीवन में नवीन कवि के कौशल का

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तल ५.२२। २. भारतमंजरी शाकुन्तलपर्व २७२।
३. उत्तररामचरित १.१०। ४. भारतमंजरी यायातपर्व ३३०।

निर्देश ही नहीं किया अपितु अपनी कृतियों में इस प्रकार के कविकौशल का पूरा प्रदर्शन भी किया है। पदानुहरण का दृष्टान्त निम्नोद्धृत सूक्ति में देखिये[1]—

यथा रन्ध्रं व्योम्नश्चलजलदधूमः स्थगयति
स्फुलिंगानां रूपं दधति च यथा कीटमणयः।
यथा विद्युज्ज्वालोल्लसनपरिपिंगाश्च ककुभ-
स्तथा मन्ये लग्नः पथिकतरुखण्डे स्मरदवः॥

इसके रचयिता ध्वनिकार आनन्दवर्धन के समकालीन काश्मीर के ही एक संस्कृत कवि 'मुक्ताकण' हैं। इनकी इस सूक्ति के कतिपय पदों के उपजीवन में इनके ही सहोदर भाई चक्रपाल कवि का रचित निम्नोद्धृत श्लोक है[2]—

सरस्यामेतस्यामुदरवलिवीचोविलुलितं
यथा लावण्याम्भो जघनपुलिनोल्लंघनकरम्।
यथा लक्ष्यश्चायं चलनयनमीनव्यतिकर-
स्तथा मन्ये मग्नः प्रकटकुचकुम्भः स्मरगजः॥

पदानुहरण में नवीन अर्थ के उपनिबन्धन के अनेकों मनोरम दृष्टान्त क्षेमेन्द्र की ही काव्य रचनाओं में जहां-तहां उपलब्ध होते हैं। जैसे कि 'भारतमंजरी' के ही हरिवंश प्रकरण का निम्नलिखित श्लोक देखिये[3]—

निशाकरकरोदारतारहारतरंगितः।
विस्फारनिर्झरोद्गार इव नीलधराधरः॥

इस श्लोक के तृतीय चरण का 'निर्झरोद्गार' पद कालिदास के रघुवंश के निम्नलिखित श्लोक के चतुर्थ चरण के 'निर्झरोद्गार' पद का अनुहरण है[4]—

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्तांगरागो हरिचन्दनेन।
विभाति बालातपरक्तसानुः स निर्झरोद्गार इवाद्रिराजः॥

किन्तु इस अनुहरण में क्षेमेन्द्र का कोई दोष नहीं। इसमें उनके स्मृति-कोष का भले ही दोष हो जिसमें संस्कृत काव्यों की सूक्तियां भरी पड़ी हैं और समय-समय पर उनकी नयी रचनाओं को प्रोत्साहित करने में अपना रूप प्रकाशित कर देती हैं।

---

१. कविकण्ठाभरण २.१ वृत्ति। २. वही २.१ वृत्ति।
३. भारतमंजरी हरिवंश १२६४। ४. रघुवंश ६.६०।

पादानुहरण

'पादानुहरण' अथवा 'पादोपजीवन' के निदर्शन के लिए क्षेमेन्द्र ने नीचे लिखी अपनी ही सूक्ति उद्धृत की है[१]—

हंहो स्निग्धसखे ! विवेकबहुभिः प्राप्तोऽसि पुण्यैर्मया
गन्तव्यं कतिचिद्दिनानि भवता नास्मत् सकाशात् क्वचित् ।
त्वत्संगेन करोमि जन्ममरणोच्छेदं गृहीतत्वरः
को जानाति पुनस्त्वया सह मम स्याद् वा न वा संगमः ॥

इस सूक्ति का चतुर्थ पाद महाकवि अमरुक की निम्नलिखित सूक्ति के चतुर्थ पाद का 'अनुहरण' है[२]—

गन्तव्यं यदि नाम निश्चितमहो गन्तासि केयं त्वरा
द्वित्राण्येव दिनानि तिष्ठतु भवान् पश्यामि यावन्मुखम् ।
संसारे घटिकाप्रणालविगलद्धारा समे जीविते
को जानाति पुनस्त्वया सह मम स्याद्वा न वा संगमः ॥

यहां यह स्पष्ट है कि क्षेमेन्द्र ने न तो अमरुकशतक की उपर्युक्त सूक्ति के चतुर्थ चरण को एक समस्यारूप में मानकर उस समस्या की पूर्ति की, और न इसकी चोरी ही की । महाकवि अमरुक की 'को जानाति पुनस्त्वया सह मम स्याद्वा न वा' आदि पंक्ति क्षेमेन्द्र को प्रिय लगी होगी और इसकी इस प्रियंकरता को ही अमर बनाने के लिये क्षेमेन्द्र ने इसे अपनी सूक्ति का अभिन्न अंग बना लिया ।

महाकवि कालिदास के मेघदूत का निम्नोद्धृत श्लोक देखिये[३]—

तं चेद् वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा
बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः ।
अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रै-
रापन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम् ॥

मेघदूत के अन्य श्लोकों की भांति इस श्लोक में भी क्षेमेन्द्र का हृदय अनुरक्त प्रतीत होता है और इसके प्रति अपने हृदय के अनुराग का प्रकाशन

---

१. कविकण्ठाभरण २.१ वृत्ति ।

२. अमरुशतक १६३ । कविकण्ठाभरण के उद्धरण में उपलब्ध ।

३. मेघदूत : पूर्वमेघ ५३ ।

करने के लिए क्षेमेन्द्र ने इसके अन्तिम पाद के अधिकांश का अपनी निम्नोद्धृत सूक्ति में अनुहरण कर लिया है[१]—

मैत्रं चेतस्तरुणकरुणं सत्त्वशुद्धं विशुद्ध-
मापन्नार्तिप्रशमनफलस्फीतसात्मप्रदानम् ॥

यहां कालिदास के मेघदूत का चतुर्थ चरण भगवान् बुद्ध के अवदान वर्णन का उपकरण बनकर भी सर्वथा मौलिक दिखाई दे रहा है और क्षेमेन्द्र का किया इस चरण का अनुहरण भी उनकी सूक्ति के सौन्दर्य का ही वर्धन कर रहा है।

इसी प्रकार 'बौद्धावदानकल्पलता' की निम्नलिखित सूक्ति देखिये[२]—

शबरीकबरीपाशपुष्पसौरभनिर्भराः ।
विन्ध्यं वसुन्धराधीशं मरुतस्तं सिषेविरे ॥

इस सूक्ति का अन्तिम चरण महाकवि कालिदास के रघुवंश के निम्नोद्धृत श्लोक के अन्तिम चरण का अनुहरण है[३]—

भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः ।
गंगाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे ॥

क्षेमेन्द्र की 'बौद्धावदानकल्पलता' का एक श्लोक है[४]—

पौलोमीव जयन्तेन जननी पूज्यजन्मना ।
बभौ तेन कुमारेण कुमारेणेव पार्वती ॥

यदि इस श्लोक की रचना पर ध्यान दिया जाये तो महाकवि कालिदास के रघुवंश के निम्नलिखित श्लोक पर ध्यान चला जाता है[५]—

उमावृषांकौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ ॥

और यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि क्षेमेन्द्र के लिए उक्त श्लोक 'अनुहरण' काव्य-रचना का एक आवश्यक अंग रहा है।

क्षेमेन्द्र की 'अवदानकल्पलता' में अन्य कविकृत काव्य सूक्तियों के चाहे जितने भी पद अथवा पाद आदि के 'अनुहरण' दिखाई पड़ें किन्तु यह निःसन्दिग्ध है कि क्षेमेन्द्र की यह कृति एक मौलिक कृति है। 'अनुहरण' से इसकी मौलिकता में न्यूनता नहीं आती अपितु उसकी श्रीवृद्धि ही होती है। क्षेमेन्द्र के पुत्र

---

१. बौद्धावदानकल्पलता पल्लव २.१३६। २. वही १.३१।
३. रघुवंश ४.७३। ४. बौद्धावदानकल्पलता : पल्लव ३.३१।
५. रघुवंश ३.१३।

सोमेन्द्र ने 'अवदानकल्पलता' की जो पद्यमय उपक्रमणिका लिखी है उसके निम्नलिखित श्लोकों को देखिये[1]—

आचार्यगोपदत्ताद्यैरवदानक्रमोज्झिताः ।
उच्चित्योच्चित्य विहिता गद्यपद्यविश्रृङ्खलाः ॥
एकमार्गानुसारिण्यः परं गाम्भीर्यकर्कशाः ।
विस्तीर्णवर्णनाः सन्ति जिनजातकमालिकाः ॥
अवदानक्रमेणैव त्वन्तु संक्षेपविस्तरैः ।
रम्यैस्तथागतकथाः कोमलाः कर्तुमर्हसि ॥

इन उपक्रम श्लोकों में सोमेन्द्र ने यह स्पष्ट निर्देश कर दिया है कि उनके पिता क्षेमेन्द्र की बौद्धावदान कृति किन-किन विशेषताओं के कारण नयी कृति है। जातकों की विश्रृंखल गद्य-पद्यरचना के स्थान पर 'अवदानकल्पलता' में पद्य रत्नों की श्रृंखला बनायी गई है। जातकों के विस्तीर्ण और विकीर्ण वर्णनों में अवदानों के क्रम का कोई पता नहीं चलता किन्तु 'अवदानकल्पलता' में सभी अवदान क्रम से, संक्षेप में, और बड़ी सुन्दरता से वर्णित हैं। अन्य कवियों के पद अथवा पाद आदि के अनुहरणमात्र से क्षेमेन्द्र की इस नयी काव्य कृति में कोई त्रुटि नहीं दिखाई देती।

सकलानुहरण

किसी अन्य कवि के रचित समस्त श्लोक के उपजीवन का नाम 'सकलानुहरण' है। इस सकलोपजीवन अथवा सकलानुहरण का उदाहरण निम्नलिखित सूक्ति में देखिये[2]—

शब्दैर्निसर्गकटुभिर्मलिनस्वभावाः
श्रोत्रं खला निगडवत् परितस्तुदन्ति ।
श्रव्यैरलुप्तपदबन्धतयाऽतिमञ्जु-
मञ्जीरवत्तु सुजना जनयन्ति खेदम् ॥

क्षेमेन्द्र के निर्देश के अनुसार यह सूक्ति आर्यभट्ट की है। आर्यभट्ट का नाम प्राचीन भारत के गणितविज्ञान और ज्योतिर्विज्ञान के इतिहास में प्रसिद्ध है। आर्यभट्ट प्रथम का कार्यकाल ४थी ५वीं शताब्दी गुप्तकाल है। आर्यभट्ट के इस सम्पूर्ण श्लोक के अनुहरण में महाकवि बाण की कादम्बरी के उपक्रमण का यह निम्नलिखित श्लोक निकला है[3]—

१. अवदानकल्पलता सोमेन्द्र कृत उपक्रमणिका ७.९।
२. कविकण्ठाभरण २.१ वृत्ति। ३. कादम्बरी, उपक्रमण श्लोक।

कटु क्वणन्तो मलदायकाः खला-
स्तुदन्त्यलं बन्धनश्रृङ्खला इव ॥
मनस्तु साधुध्वनिभिः पदे पदे
हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव ॥

आर्यभट्ट ने अपने श्लोक की रचना अपनी कृति के समालोचकों को ध्यान में रखकर की होगी और बाणभट्ट ने आर्यभट्ट के श्लोकानुहरण में अपनी 'अतिद्वयी कथा' के समालोचकों के लिए अपना श्लोक रचा।

सकलानुहरण के निदर्शनरूप से हम क्षेमेन्द्र की ही निम्नलिखित सूक्ति देख सकते हैं[१]—

आकृतीनां समुचिता रुचिरा लोकवृत्तयः।
औचित्यचारुचरितं प्रसादविशदं मनः॥
वात्सल्यपेशलावाणी न कस्यादरभूमयः।

इस सूक्ति में महाकवि कालिदास के 'रघुवंश' की निम्नलिखित सूक्तियों का सकलानुहरण दिखाई देता है[२]--

आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः॥
भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम्।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः॥

अथवा काश्मीर के ही महाकवि सोमदेव (१२वीं १३वीं शती) के 'कथासरित्सागर' का एक निम्नलिखित सुन्दर श्लोक देखिये[३]—

रसना मदिरारसैकसक्ता कलवीणारवरागिणी श्रुतिश्च।
दयितामुखनिश्चला च दृष्टिः सुखिनस्तस्य सदा बभूव राज्ञः॥

और इस श्लोक के भावसौन्दर्य को ध्यान में रखकर महाकवि कालिदास के 'रघुवंश' में अग्निवर्ण के वर्णन के प्रसंग में आये निम्नोद्धृत श्लोक पर भी ध्यान दीजिये[४]—

अङ्कमङ्कपरिवर्त्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे।
वल्लकी च हृदयङ्गमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना॥

---

१. बौद्धावदानकल्पलता पल्लव ६.१६९-१७०।

२. रघुवंश १.१५-१६। ३. कथासरित्सागर कथामुख १.९०।

४. रघुवंश १९.१३।

यह निःसन्दिग्ध है कि सोमदेव का कवित्व महाकवि कालिदास के कवित्व का सम्पूर्णरूप से अनुहरण कर रहा है।

क्षेमेन्द्र की कवि शिक्षा के शतक[1] में कई एक उल्लेख ऐसे हैं जिनमें काव्य में अनुहरण की प्रक्रिया का समर्थन किया हुआ है। जैसे कि परकृत काव्य सूक्तियों का पाठ (पाठः परकृतस्य च), महाकवियों के प्रतिपादित अथवा उद्भावित काव्यार्थों का मनोयोगपूर्वक अनुशीलन (महाकाव्यार्थचर्वणम्), अन्य कविकृत सूक्तियों की उत्कृष्टता का विश्लेषण (परोत्कर्षविमर्शनम्), काव्यनिर्माण में कौशल की सिद्धि के लिए अन्य कवियों के प्रति शिष्यभाव का अनुपालन (व्युत्पत्त्यै सर्वशिष्यता), दूसरे कवियों की सुन्दर-सुन्दर उक्तियों का स्वीकार (परसूक्तपरिग्रहः), नवीन काव्यबन्ध के निर्माण में प्रयत्न (नूतनोत्पादने यत्नः), अन्य कवि की सूक्तियों के अभिप्राय का अपने काव्य-बन्ध में अन्य रूप से प्रकाशन (पराभिप्रायकथनम्), दूसरे कवियों की सूक्तियों के सदृश अपनी सूक्ति का निर्माण (परसादृश्यभाषणम्) और अन्य कवियों के उपनिबद्ध काव्यार्थों की छाया के अनुहरण में अपने काव्यार्थों का उपनिबन्धन (ससंवादार्थसगति) ये शिक्षायें ऐसी हैं जिन्हें 'काव्य में अनुहरण' की शिक्षायें कह सकते हैं। और जिनके दान में क्षेमेन्द्र की काव्यसमीक्षा का औचित्य स्पष्ट झलक जाता है।

क्षेमेन्द्र का 'सूक्तिचमत्कार' का जो सिद्धान्त है उसमें भी 'अनुहरण' की कला का संकेत मिल जाता है। जब तक सूक्ति में कोई चमत्कार न हो तब तक कवित्व कहां ? और जब तक कवित्व नहीं तब तक कोई रचना काव्य कैसे कही जाये ? कवि और भ्रमर का स्वभाव एक ही होता है। जैसे भ्रमर मधु-संचय के लिए नये-नये रूप-रंग और नयी-नयी सुगन्ध के फूलों का लोभी होता है और वासन्तिक उद्यानों में विचरता रहता है वैसे ही कवि भी अपने सूक्ति चमत्कार के लिए, नए-नए रूप-रंग और नयी-नयी सरसता के शब्दार्थ-बन्धों का लोभी होता है और प्राचीन काव्यों के बीच विचरता रहता है—[2]

सुकविरतिशयार्थी वाक्चमत्कारलोभा-
दभिसरति मनोज्ञे वस्तुशब्दार्थसार्थे।
भ्रमर इव वसन्ते पुष्पकान्ते वनान्ते
नवकुसुमविशेषामोदमास्वादलोलः ॥

---

१. कविकण्ठाभरण २.३.४.१३.१६.१९। २. वही ३.१।

वाल्मीकि रामायण और महाकाव्य शैली के रामकाव्य : महाकवि कालिदास कृत रघुवंश

संस्कृत में रामायण का उद्‌गम स्रोत ऋषिकवि वाल्मीकि रचित रामायण है। वाल्मीकि कृत रामायण एक अक्षय स्रोत है। इस स्रोत से काव्य रचना की विविध शैलियों में रामकाव्य की धारायें निकली हैं। ये काव्य धारायें अभी भी संस्कृत तथा संस्कृत से अनुप्राणित भारत की भाषाओं में प्रवाहित हो रही हैं। काव्य की दृष्टि से भी वाल्मीकि रामायण आदि काव्य है क्योंकि संस्कृत साहित्य की सभी काव्यात्मक परम्पराओं का प्रारम्भ इसी से होता है। हमारे देश के महाकवि, वाल्मीकि रामायण में ही 'काव्य स्वरूप' का दर्शन करते आये हैं और हमारे काव्यालोचक वाल्मीकि रामायण को ही काव्य का मानदण्ड मानते आए हैं। वाल्मीकि रामायण की 'मौलिकता' तर्क और अनुमान का विषय नहीं अपितु प्रत्यक्ष संवेदन और अनुभव का विषय है। वाल्मीकि रामायण की इस मौलिकता पर ध्वनि दार्शनिक आनन्दवर्धन की यह उक्ति स्मरणीय है[1]—

सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः।
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी॥

जिसका अभिप्राय यह है कि वाल्मीकि रामायण आदि काव्य, साहित्य के ऐसे आदर्शभूत ग्रन्थ हैं जिन्हें अन्य काव्यों से सर्वथा पृथक् श्रेणी में रखना चाहिये। कारण यह है कि ये 'सिद्धरस' हैं और अन्य काव्यकारों की कृतियां 'साध्यरस'। अन्य कवियों ने विभावादि की योजना में अपनी काव्य कला को सफल किया है। किन्तु वाल्मीकि रामायण की बात दूसरी है। रामायण की कविता करुणवेदी ऋषि कवि के हृदय से निकली है। यह रस का मानसरोवर है जिसके दर्शन में रस अथवा आनन्दानुभव प्राप्त होता है और जिसके विश्लेषण में रस योजना के तत्वों और तथ्यों का विश्लेषण किया जाता है। इसीलिए जो भी कविजन इसके आनन्द से प्रभावित होकर काव्य रचना करते हैं उनके लिए यह अपेक्षित है कि वे अपनी काव्यसृष्टि के लिए इसके वृत्त उपवृत्त में मनमाने ढंग से परिवर्तन न करें। और यदि कहीं इसके कथाभाग में कुछ परिवर्तन भी करना चाहें तो वह परिवर्तन इसके सारभूत रसभाव के प्रतिकूल कदापि न हो।

---

१. ध्वन्यालोक उद्योत ३ वृत्तिश्लोक।

कालिदास की दृष्टि में रामायण की मौलिकता और अनुकरणीयता

आनन्दवर्धन से कई शताब्दियों पहले महाकवि कालिदास ने महर्षि वाल्मीकि को कविजन का अनुकरणीय आदर्श माना है। रघुवंश महाकाव्य की एक सूक्ति है[1]—

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥

इस सूक्ति में वाल्मीकि को एक ऐसा कवि कहा गया है जिसके हृदय की करुणा एक क्रौञ्च के वध के दृश्य से प्रेरित होकर काव्य का दिव्य भव्य रूप धारण कर लेती है। इसका तात्पर्य यह है कि जब कि और कवि अपनी काव्य रचना में काव्य तत्वों की खोज में चिन्तित और प्रयत्नशील रहा करते हैं वहां वाल्मीकि के हृदय से रामायण के रूप में अनायास करुणा का स्रोत फूट निकलता है। यहां करुणा का स्रोत ही आदि काव्य रामायण है। ऐसे कारुणिक कवि (कविः कारुणिकः। रघुवंश १५.७१) के चरण चिह्नों पर चलना कविजन का परम लक्ष्य है।

महाकवि कालिदास कारुणिक कवि वाल्मीकि के अनुयायी हैं। कालिदास की दृष्टि में एक मात्र वाल्मीकि 'कवि' हैं। कवि वाल्मीकि के समान यश की प्राप्ति की कामना कालिदास की काव्यसृष्टि की एक प्रेरणा रही है। वाल्मीकि के आदर्श के अनुसरण में अपनी आस्था और श्रद्धा की घोषणा कालिदास ने स्वयं की है—'मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्'।[2] कहां अल्पबुद्धि मैं और कहां कवि वाल्मीकि के यश की प्राप्ति की मेरी कामना। इन शब्दों में कालिदास ने वस्तुतः वाल्मीकि के अनुसरण की अपनी अभिलाषा अभिव्यक्त कर दी है।

'रघुवंश' महाकाव्य की प्रेरणा और रचना का आदर्श वाल्मीकि रामायण है यह तो कालिदास की अपनी उक्ति से ही सिद्ध है। वाल्मीकि रामायण आदि कवि की कृति है। जिसमें आदि से अन्त तक करुण रस की अभिव्यक्ति है। यह ध्वनिकार आनन्दवर्धन की स्थापना है जिसे अलंकार शास्त्र के परवर्ती आचार्य सहर्ष स्वीकार करते हैं। इतना होने पर भी वाल्मीकि रामायण 'मौलिक' है और रघुवंश 'अनुहरण' ऐसा कहने का साहस किसी ने नहीं

---

१. रघुवंश १४.७०।

२. ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, श्लोक ६ की वृत्ति।

किया । 'रघुवंश' के विषय में अनुकरण की बात तो सोची भी नहीं जा सकती । कालिदास की 'रघुवंश' कृति आदि काव्य वाल्मीकि रामायण से अनुप्रेरित है किन्तु तब भी इस संसार में जिसमें कवियों की विविध और अतिविचित्र परम्परायें चल रही हैं, दो या तीन अथवा अधिक से अधिक पांच या छै ही ऐसे कवि हो चुके हैं जिन्हें महाकवि होने का गौरव प्राप्त है और उनमें प्रथम स्थान कालिदास का है । यह है ध्वनिकार आनन्द वर्धन की महाकवि मीमांसा[1] जिसे आज भी संसार के काव्यविमर्शक मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं ।

रघुवंश की मौलिकता के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त की धारणा

ध्वनिदर्शन के व्याख्याता अभिनव गुप्त ने रामायण के आदर्श पर रचित 'रघुवंश' महाकाव्य की इस अनुपम महत्ता को ही ध्यान में रखकर यह विश्लेषण किया है[2] कि रघुवंश जो एक महाकाव्य रूप 'सर्गबन्ध' है, वाल्मीकि रामायण के वृत्त उपवृत्त का अनुवर्णनमात्र नहीं अपितु रामायण के रस में निमग्न महाकवि कालिदास के रसार्द्र हृदय का उद्‌गार है जिसके कारण इसे 'कथातत्पर' महाकाव्य अथवा सर्गबन्ध से सर्वथा भिन्न श्रेणी अर्थात् 'रस तत्पर' महाकाव्य अथवा सर्गबन्ध की श्रेणी में प्रथम स्थान पाने का गौरव प्राप्त है ।

रघुवंश संस्कृत काव्य साहित्य के इतिहास में राम के चरित से संबद्ध प्रथम सर्गबन्ध अथवा महाकाव्य है जो 'रसतत्पर' है । 'रसतात्पर्य यथा रघुवंशादि' आचार्य अभिनवगुप्त की इस उक्ति को यदि हम रघुवंशविमर्श का आदिसूत्र मानें तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये । और इस आदि सूत्र की यदि हम व्याख्या कर सकें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि 'रामायण' से अनुप्रेरित होने पर भी 'रघुवंश' एक मौलिक कृति है जिसे संस्कृत के परवर्ती सर्गबन्ध प्रेरणा पाते रहे हैं । 'क इह रघुकारे न रमते' कौन है जो रघुकार कालिदास का प्रेमी नहीं ? यह उक्ति भी इसी बात को प्रमाणित करती है कि आदि काव्य रामायण की रचना के सामने भी रघुवंश की रचना एक नवीन रचना है, एक रम्य निर्माण है ।

अब प्रश्न उठता है कैसे ? प्रश्न का किंचिन्मात्र विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है ।

---

१. ध्वन्यालोकलोचन तृतीय उद्योत श्लोक ८ की वृत्ति पर लोचनव्याख्या ।

२. वाल्मीकिरामायण : बालकाण्ड १.८,१८ ।

रामायण और रघुवंश की तुलनात्मक मौलिकता

महर्षि वाल्मीकि ने 'रामायण' में आदि से अन्त तक, 'राम' के लोकोत्तर चरित का चित्रण किया है और राम मय होकर राम के करुण रस की अभिव्यक्ति की है। बालकाण्ड के प्रथम सर्ग की ये प्रारम्भिक सूक्तियां हैं—

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी॥
बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमान् शत्रुनिबर्हणः।
विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः॥
महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिंदमः।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः॥
समः समविभक्तांगः स्निग्धवर्णः प्रतापवान्।
पीनवक्षाः विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्छुभलक्षणः॥
धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हिते रतः।
यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्॥
प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपुनिषूदनः।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता॥
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता।
वेदवेदांगतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः॥
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान्।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः॥
सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः॥
स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव॥
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत्प्रियदर्शनः।
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः॥
धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः॥

इन सूक्तियों में इक्ष्वाकुवंश के राम के चरितचित्रण की रूपरेखायें दी हुई हैं जो ऋषिकवि की प्रतिभा से आगे चलकर क्रमशः उभरती और नये नये रंगरस में रँगती दिखाई देती हैं। महाकवि कालिदास ने राम के चरितचित्रण

की इन रूपरेखाओं को बड़े मनोयोग से अपने ध्यान में रक्खा है और एक नये सन्दर्भ में तथा एक नयी पृष्ठभूमि पर इन्हें अपने ढंग से ऐसा खींचा है कि देखने वाले इनकी नवीनता और विचित्रता से चमत्कृत हो जाते हैं। कालिदास ने रामचरित्र चित्रण की रूपरेखा बड़ी सूक्ष्म किन्तु बड़ी सारगर्भित खींची है। रघुवंश के प्रथम सर्ग की ये सूक्तियां हैं[1]—

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥
यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ।
त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥
रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन् ।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥
तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः ।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥

वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड तथा कालिदासकृत रघुवंशकाव्य की ऊपर उद्धृत सूक्तियों पर ध्यान देने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जहाँ आदि कवि (वाल्मीकि) ने इक्ष्वाकुवंश के राजकुमार 'राम' को समस्त मानवोचित और महाराजोचित गुणों से सुशोभित प्रतिपादित किया है वहाँ (महाकवि) कालिदास ने आदिकवि की भावना में प्रतिफलित राम के गुणों को राम के पूर्वज दिग्विजयी महाराज रघु के वंशानुवंश क्रम से प्राप्त उत्तराधिकार के रूप में निरूपित किया है। आदि कवि को राम के जीवन ने प्रभावित किया था। इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न राम पुरुषोत्तम थे जिनके मानवोचित जीवन के चित्रण में आदि कवि ने परम्परागत तथा समसामयिक भारतीय संस्कृति और भारतीय सभ्यता के समस्त आदर्शों और यथार्थों का काव्यमय चित्रण किया। महाकवि ने इस महान् काव्यमय चित्रण से काव्यात्मक प्रेरणा पायी और समसामयिक भारतीय जीवन के आदर्शों और यथार्थों की निगूढ़ अभिव्यञ्जना के रूप में रामायण के समकक्ष 'रघुवंश' की रचना की। रामायण की मौलि-

---

१. रघुवंश १.५-१०।

कता अपने स्थान पर अक्षुण्ण है और रघुवंश की मौलिकता अपने स्थान पर। इस प्रसंग में आनन्दवर्धनाचार्य की यह उक्ति ध्यान में आती है[1]—

अवस्थादेशकालादिविशेषैरपि जायते ।
आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः ॥

इसका अभिप्राय यह है कि अभिव्यंग्य अर्थ ही अनन्तरूप का अथवा क्षण-क्षण नवीन नहीं हुआ करता अपितु शुद्ध वाच्यरूप अर्थ भी अवस्था भेद, देश भेद, काल भेद अथवा स्वरूपादिभेद से अनन्त रूप का अथवा क्षण-क्षण में नवीन बन जाया करता है। इस दृष्टि से आदि कवि द्वारा वर्णित पुरुषोत्तम राम के गुण गौरव का वाच्यार्थ और महाकवि द्वारा वर्णित राघव राम के गुण माहात्म्य का वाच्यार्थ दोनों अपने-अपने युगों और अपनी-अपनी युग परिस्थितियों के भेद से तथा अपने-अपने स्वरूप वैचित्र्य के कारण 'नवीन' ही लगते हैं। यहाँ पूर्ववर्ती आदिकवि और परवर्ती महाकवि की रचनाओं में मौलिकता और 'अनुहरण' का सम्बन्ध नहीं अपितु अपने व्यक्तित्व में प्रतिष्ठित दो मौलिक कृतियों में एक समान प्रभावमयता का सम्बन्ध है।

रामायण के अनुहरण में रघुवंश के चरित्रचित्रण की मौलिकता

आदि कवि ने इक्ष्वाकुवंशी महाराज दशरथ का जैसा सुन्दर और प्रभावशाली वर्णन किया है उससे रामायण के प्रेमी पाठक परिचित हैं। महाकवि कालिदास आदि कवि के दशरथचरित वर्णन से पूर्णतया प्रभावित हैं किन्तु कालिदास ने अपने रघुवंश में आदि कवि के द्वारा चित्रित 'दशरथचरित' से प्रभावित होकर जो कुछ भी लिखा है उसमें 'अनुहरण' की कोई बात नहीं दिखाई देती। कालिदास ने दशरथ के उदात्त महाराजोचित चरित्र की गुण सम्पत्ति को दशरथ के पूर्वज महाराज दिलीप की परम्परा से प्राप्त दिखाया है। आदि कवि का 'दशरथचरित' इन सूक्तियों में चित्रित है[2]—

तस्यां पुर्यामयोध्यायां वेदवित् सर्वसंग्रहः ।
दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपदप्रियः ॥
इक्ष्वाकूणामतिरथो यज्वा धर्मपरो वशी ।
महर्षिकल्पो राजर्षिस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥
बलवान् निहतामित्रो मित्रवान् विजितेन्द्रियः ।
धनैश्च संचयैश्चान्यैः शक्रवैश्रवणोपमः ॥

---

१. ध्वन्यालोक चतुर्थ उद्योत कारिका ७।

२. वाल्मीकिरामायण।

यथा मनुर्महातेजा लोकस्य परिरक्षिता ।
तथा दशरथो राजा लोकस्य परिरक्षिता ॥ आदि ।

और महाकवि कालिदास का दिलीप चरित्रचित्रण यह है[1]—

तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः ।
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव ॥
व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः ।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ॥
सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोभिभाविना ।
स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वीं क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना ॥
आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः ।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः ॥
भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम् ।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः ॥
रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम् ।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ॥
... ...
जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः ।
अगृध्नुराददे सोर्थमसक्तः सुखमन्वभूत् ॥
... ...
अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः ।
तस्य धर्मरतेरासीद् वृद्धत्वं जरसा विना ॥
प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥

इन दोनों चरितवर्णनों पर ध्यान देने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आदि कवि वाल्मीकि ने महाराज दशरथ के व्यक्तित्व की जिन विशेषताओं पर प्रकाश डाला है उन विशेषताओं को ही ध्यान में रखकर महाकवि कालिदास ने दशरथ के पूर्वज महाराज दिलीप के व्यक्तित्व का चित्रण किया है। किन्तु जैसे रामायण के दशरथ के व्यक्तित्व के स्रष्टा वाल्मीकि हैं वैसे ही रघुवंश के 'दिलीप' के व्यक्तित्व के स्रष्टा कालिदास। आदि कवि की चरित कल्पना भारतीय साम्राज्यवाद के आदर्शों की छाप नहीं है। भारतीय साम्राज्य-

१. रघुवंश १.१२-२४।

वाद के आदर्शों की छाप तो महाकवि कालिदास की चरित कल्पना पर दिखाई देती है।

आदि कवि की रचना राम के करुण रस की अभिव्यञ्जना में आरम्भ होती है और उसी में समाप्त होती है किन्तु महाकवि की रचना दिग्विजयी सम्राट् रघु के वीररस से प्रेरणा पाती है और उसी की वंशानुवंशिक अभिव्यक्ति में विविध रूप से प्रोत्साहित होती है।

दिग्विजयी रघु के चरित्र चित्रण की दृष्टि से कालिदास की मौलिकता

राम के मांगलिक जन्मोत्सव के वर्णन में महर्षि वाल्मीकि के निम्नलिखित श्लोकों को देखिये[1]—

ततश्च द्वादशे मासे चैत्रे नावमिके तिथौ।
नक्षत्रेऽदितिदैवत्ये स्वोच्चसंस्थेषु पञ्चसु॥
ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्पताविन्दुना सह।
प्रोद्यमाने जगन्नाथं सर्वलोकनमस्कृतम्॥
कौसल्याजनयद् रामं दिव्यलक्षणसंयुतम्।
विष्णोरर्धं महाभागं पुत्रमैक्ष्वाकुनन्दनम्॥
लोहिताक्षं महाबाहुं रक्तोष्ठं दुन्दुभिस्वनम्।
कौसल्या शुशुभे तेन पुत्रेणामिततेजसा॥
यथा वरेण देवानामदितिर्वज्रपाणिना॥

कालिदास ने भी राम के जन्मोत्सव का वर्णन किया है किन्तु वाल्मीकि रामायण की उपर्युक्त श्लोक पंक्तियों के अभिप्राय का अवलम्बन नहीं लिया है। प्राचीन भारतीय ज्योतिष की एक मान्यता है जिसके अनुसार जिस व्यक्ति के जन्मकाल में, ग्रह पञ्चक उच्च स्थान में अवस्थित होते हैं वह महाभाग्यशाली हुआ करता है। वाल्मीकि के उपर्युक्त श्लोकों में भारतीय फलित ज्योतिष की यही मान्यता प्रतिपादित है। कालिदास भी इस मान्यता के समर्थक हैं किन्तु कालिदास ने 'राम' के जन्मोत्सव की उपर्युक्त भाग्य सम्पत्ति को सम्राट् रघु के जन्मोत्सव की भाग्यसम्पत्ति के उत्तराधिकार के रूप में वर्णित किया है। 'रघुवंश' का निम्नलिखित श्लोक देखिये जिसमें कालिदास ने सम्राट् रघु के जन्म का वर्णन किया है[2]—

---

१. रामायण बालकाण्ड १८.८-१२। २. रघुवंश ३.१३।

ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसम्पदम् ।
असूत पुत्रं समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम् ॥

यहां और बातें वही हैं जो वाल्मीकि रामायण के ऊपर उद्धृत श्लोकों में हैं किन्तु वाल्मीकि रामायण में एक बात नहीं है जिस पर रघुवंशकार की दृष्टि है । रघुवंशकार की दृष्टि रघु के जन्म में कोसल के साम्राज्य का जन्म देख रही है जैसा कि 'त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम्' की नयी उपमा से स्पष्ट है कि वाल्मीकि का अनुगमन करते हुए भी कालिदास उनके गन्तव्य से भिन्न ही गन्तव्य की ओर अग्रसर होते दिखाई देते हैं ।

'दिग्विजयी रघु' का चरित महाकवि कालिदास की मौलिक प्रतिभा का प्रासाद है । जैसे अंग्रेजी के महाकवि शेक्सपियर ने प्राचीन ऐतिह्य वार्ताओं में वर्णित 'मैकवेथ' और 'हैमलेट' चरित के आधार पर 'मैकवेथ' और हैमलेट का चरित चित्रण किया किन्तु मैकवेथ और हैमलेट महाकवि शेक्सपियर की मौलिक कवि प्रतिभा से प्रसूत माने जाते है वैसे ही पुराणों में प्रतिपादित इक्ष्वाकुवंशी 'रघु' का ही चरित कालिदास ने भी चित्रित किया है किन्तु रघुवंश प्रेमी पाठक यह भली भांति जानते हैं कि 'दिग्विजयी रघु' के चरित वर्णन में महाकवि कालिदास की मौलिक प्रतिभा ही झलकती है ।

अपने अपने स्थानों पर चित्रित 'दिलीप' और 'रघु' दोनों धीरोदात्त नायक ही माने जायेंगे किन्तु दोनों के व्यक्तित्व अपनी अपनी मौलिक विशेषताओं में ही ओत प्रोत दिखाई देते हैं । दोनों के प्रति विशिष्ट व्यक्तित्व के निरूपण में महाकवि की मौलिक प्रतिभा का ही साथ दिखाई देता है । किसी प्राचीन अथवा समसामयिक काव्य अथवा पुराण प्रबन्ध के अनुहरण अथवा अनुकरण की बात सोची भी नहीं जा सकती ।

'रघु' के महान् चरित की उद्भावना में कालिदास ने 'दिलीप' के चरित्र के संदर्भ में रची अपनी काव्य सूक्ति का भी जो अनुहरण किया है उस अनुहरण में भी उन्होंने कुछ विशेषता का ही आधान किया है । उदाहरण के लिए महाराज दिलीप के चरित वर्णन से संबद्ध निम्नलिखित सूक्ति देखिये[1]—

रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम् ।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ॥

यहां 'महाराज दिलीप' के चरित वर्णन में मनुके मार्ग का जो उल्लेख है वही उल्लेख 'दिग्विजयी रघु' के चरित वर्णन से संबद्ध निम्नलिखित सूक्ति में भी है[2]—

---

१. रघु० १.१७ ।   २. रघुवंश ४.७ ।

मनुप्रभृतिभिर्मान्यैर्भुक्ता यद्यपि राजभिः ।
तथाप्यनन्यपूर्वेव तस्मिन्नासीद् वसुन्धरा ॥

किन्तु दोनों उल्लेखों में दो भिन्न भिन्न दृष्टियां झलक रही हैं । पहले में तो दिलीप को मनु का अनुयायी प्रतिपादित किया हुआ है किन्तु दूसरे में रघु मनु के प्रतिस्पर्धी के रूप में निरूपित हैं—

'रघुवंश' का निम्नलिखित एक श्लोक देखिये[१]—

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्त्तमानम् ।
अवाकिरन्बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः ॥

और इसे रघुवंश के ही निम्नलिखित श्लोक से मिलाइये[२]—

अवाकिरन्वयोवृद्धास्तं लाजैः पौरयोषितः ।
पृषतैर्मन्दरोद्धूतैः क्षीरोर्मय इवाच्युतम् ॥

इन श्लोकों में मांगलिक अवसरों पर धान की खीलों के बिखरने की प्राचीन भारतीय मर्यादा का उल्लेख है किन्तु पहले श्लोक 'मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभम्' में इसका प्रयोग जिस दृष्टि से हुआ है वह दृष्टि दूसरे श्लोक में इसके प्रयोग में नहीं दिखाई देती है । पहले में तो 'नन्दिनी' के पीछे पीछे, वन में विचरण करने वाले दिलीप की मंगलकामना वाली वनलताओं द्वारा 'धान की खीलों' के रूप में, अपने फूलों को बिखेरने का उल्लेख है किन्तु दूसरे में दिग्विजय के लिए प्रस्थान करने वाले सम्राट् रघु की मंगल कामना वाली पौरनारियों द्वारा 'धान की खीलों' के बिखेरने का ऐसा निर्देश है जिसमें 'धान की खीलें' क्षीर सागर के पानी की बूंदों के रूप में निरूपित हुई हैं और सम्राट् रघु भगवान विष्णु के रूप में । कालिदास में मौलिक कवि कल्पनाएँ इतनी अधिक हैं कि एक दूसरी की पुनरुक्ति के रूप में कभी नहीं दिखाई देतीं ।

कालिदास की चित्रित रघु की दिग्विजय बाद के संस्कृत कवियों के लिए अनुहरण का विषय बन चुकी है और इससे भी कालिदास की मौलिकता ही प्रमाणित होती है । किन्तु इसमे भी कोई सन्देह नहीं कि कालिदास के बाद का कोई भी संस्कृत कवि कालिदास की इस मौलिक चरित कल्पना का अनुकरण नहीं कर सका । काश्मीर के महाकवि बिल्हण द्वारा कालिदास की 'रघु' दिग्विजय का अनुहरण देखिये[३]—

कार्यतो युवराजत्वे राजसूनुरवस्थितः ।
स दिग्विजयमव्याजवीरः स्मर इवाकरोत् ॥

---

१. वही २.१० । २. वही ४.२७ ।

३. विक्रमाकंदेवचरित ४.१ ।

यहां महाकवि विल्हण ने विक्रमांकदेव की दिग्विजय में, कालिदास वर्णित रघु दिग्विजय की निम्नलिखित सूक्ति का अनुहरण करना चाहा है[1]—

स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः।
षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया॥

किन्तु संस्कृत के काव्य पाठकों से यह छिपा नहीं है कि कालिदास के दिग्विजय वर्णन की जो प्रभावशालिता और ऐतिहासिक सत्यता है वह विल्हण के 'दिग्विजय वर्णन' में नहीं दिखाई देती।

कालिदास की निम्नलिखित सूक्तियों को देखिये[2]—

ससञ्जुरश्वक्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः ।
तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु फलरेणवः॥
भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम्।
नास्रसत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीच्छेदिनामपि॥

रघु के दिग्विजयवर्णन के ये चित्र न तो वाल्मीकि रामायण में कहीं मिलते हैं और न महाभारत में। विल्हण ने अपने निम्नलिखित श्लोकों में कालिदास को ही अनुकार्य अथवा अनुहार्य माना है[3]—

अभज्यन्त गजैस्तस्य लीलया मलयद्रुमाः।
समं केरलकान्तानां चूर्णकुन्तलवल्लिभिः॥
मदस्तम्बेरमैस्तस्य मलये निर्द्रुमे कृते।
मन्ये चन्दनवायूनामभूद्दुर्भिक्षमक्षयम्॥

किन्तु विल्हण के श्लोक ऊपर उद्धृत कालिदास के श्लोकों का अनुहरण करने में सर्वथा असमर्थ ही लग रहे हैं। कालिदास के वर्णित 'मत्तेभ' मतवाले हाथी और विल्हण के वर्णित 'मदस्तम्बेरम' में वही भेद है जो उक्ति वैचित्र्य और वस्तु स्वभाव वर्णन में हुआ करता है। कालिदास ने रघु की विजयिनी गजसेना का वर्णन किया है और विल्हण ने अपनी भंगीभणिति के प्रदर्शन में आनन्द लिया है।

रघुवंश में महाराज अज और इन्दुमती चरित की नयी उद्भावना

'रघुवंश' एक मौलिक काव्य सृष्टि है इस बात को प्रमाणित करने के लिये

१. वही ४.२६। २. वही ४.४७-४८।
३. विक्रमांकदेवचरित ४.२,३।

अज और इन्दुमती का सुन्दर काव्यात्मक चरित चित्रण कम महत्व नहीं रखता। सम्राट् रघु के व्यक्तित्व का समस्त वैभव उनके पुत्र और उनके उत्तराधिकारी अज में संक्रान्त है इस बात को महाकवि ने अपने ही ढंग से निरूपित किया है[१]—

रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम्।
न कारणात् स्वाद् बिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्॥

सभी संस्कृत के कवि 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इस प्राचीन मर्यादा से परिचित हैं किन्तु इसे 'काव्य' के रूप में सबसे पहले कालिदास ने ही निरूपित किया है। 'रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्'[२] इस नम्र निवेदन में ही कालिदास ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उनकी दृष्टि वाल्मीकि रामायण के 'दशरथ' और 'राम' के वर्णन पर नहीं अपितु दशरथ के पूर्वजों के चरित्र के जिस अंश को वाल्मीकि ने छोड़ दिया था उस अंश की पूर्ति पर है। कालिदास ने वाल्मीकि के वर्णित दशरथ और राम के 'करुण' की एक पृष्ठभूमि की कल्पना की है। इस पृष्ठभूमि की कल्पना में ही कालिदास के रघुवंश की निम्नलिखित मौलिक उद्भावना निकलती प्रतीत होती है।

१. कामधेनु के शाप के कारण महाराज दिलीप और रानी सुदक्षिणा का अपनी निःसन्तानता पर नैराश्य चिन्तन[३]—

तस्यामात्मानुरूपायामात्मजन्मसमुत्सुकः।
विलम्बितफलैः कालं स निनाय मनोरथैः॥

२. नन्दन वन में विहार करने वाले महाराज अज और इन्दुमती पर किसी अद्भुत शाप के कारण दुःख का वज्रपात[४]—

अभिभूय विभूतिमार्तवीं मधुगन्धातिशयेन वीरुधाम्।
नृपतेरमरस्रगाप सा दयितोरुस्तनकोटिसुस्थितिम्॥
क्षणमात्रसखीं सुजातयोः स्तनयोस्तामवलोक्य विह्वला।
निमिमील नरोत्तमप्रिया हृतचन्द्रा तमसेव कौमुदी॥
वपुषा करणोज्झितेन सा निपतन्ती पतिमप्यपातयत्।
ननु तैलनिषेकबिन्दुना सह दीपार्चिरुपैति मेदिनीम्॥
उभयोरपि पार्श्ववर्तिनां तुमुलेनार्तरवेण वेजिताः।
विहगाः कमलाकरालयाः समदुःखा इव तत्र चुक्रुशुः॥

१. रघुवंश ५.३७। २. वही १।३३।
३. वही १.९। ४. वही ८.३६-३९।

इन्दुमती स्वयंवर वर्णन, कालिदास की मौलिक उद्भावना

वाल्मीकि रामायण के दशरथ और राम के वर्णनों का अनुसरण करने के पहले महाकवि कालिदास ने कई एक मौलिक उद्भावनायें की हैं जिसमें 'इन्दुमती' के स्वयंवर का वर्णन एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है : प्राचीन भारत के साम्राज्य युग में 'स्वयंवर विवाह' क्या था ? इसका एक मात्र दृष्टान्त रघुवंश का छठा सर्ग है जो किसी भी प्राचीन साहित्यिक कृति के अनुसरण अथवा अनुहरण में रचा गया नहीं प्रतीत होता । इसी सर्ग में कालिदास का निम्नलिखित श्लोक भी अन्तर्भूत है जिसमें अलंकार योजना की मीमांसा में, संस्कृत के अनेकों आलंकारिक परस्पर स्पर्धा में पड़ दिखाई देते हैं[१]—

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन ।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥

इसी सर्ग में कालिदास की वह प्रसिद्ध सूक्ति भी है जिसमें वर्णित 'दीपशिखा' अब तक संस्कृत के रसिकों और समीक्षकों को अपनी ओर आकृष्ट करती आई है[२]—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥

रामायण वर्णित दशरथ चरित के अनुहरण में रघुवंश की काव्यात्मक विशेषता

रघुवंश के नवम सर्ग से चतुर्दश सर्ग तक कालिदास आदिकवि के रामायण के वृत्त चरित तथा रसभाव के निरूपण का अनुहरण करते देखे जा सकते हैं किन्तु उनका यह अनुहरण उनकी मौलिक कविप्रतिभा के विकास का एक अवलम्बन मात्र लगता है । रघुवंश के नवम सर्ग में 'द्रुतविलम्बित' वृत्त की योजना यह स्पष्ट कर देती है कि महाकवि महर्षि वाल्मीकि की कृति के आनन्द का अनुभव करते अपनी रचना के आनन्द में आगे बढ़ रहे हैं । नवम सर्ग का पहला ही श्लोक देखिये—

पितुरनन्तरमुत्तरकोसलान् समधिगम्य समाधिजितेन्द्रियः ।
दशरथः प्रशशास महारथो यमवतामवतां च धुरि स्थितः ॥

इस श्लोक में 'द्रुतविलम्बित' में ऐसा प्रतीत होता है मानो कालिदास वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड के 'पञ्चम और षष्ठ' सर्गों के विषय और

---

१. वही ६.६० ।   २. वही ६.६७ ।

भाव के चिन्तन और आनन्द में निमग्न हों। इस सर्ग का यमक बन्ध भी काव्य-साहित्य के यमक बन्धों में एक सर्वोत्तम काव्यात्मक यमक बन्ध के रूप में माना जाता है। इसी सर्ग के यमक बन्ध का अनुहरण भारवि ने अपने किरातार्जुनीय में किया है। इस सर्ग में कालिदास आदिकवि के रामायण बालकाण्ड षष्ठ सर्ग के एक-एक पद के काव्यात्मक प्रभाव का चिन्तन करते प्रतीत होते हैं। वाल्मीकि रामायण का निम्नलिखित श्लोक देखिये और उसमें प्रयुक्त 'वशी' पद पर ध्यान दीजिये[1]—

इक्ष्वाकूणामतिरथो यज्वा धर्मपरो वशी।
महर्षिकल्पो राजर्षिस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः॥

और रघुवंश के नवम सर्ग में निम्नोद्धृत इस श्लोक के अभिप्राय पर भी ध्यान दीजिये[2]—

न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत्॥

यहाँ यह स्पष्ट है कि इस पूरे श्लोक से वाल्मीकि के प्रयुक्त 'वशी' पद का सौरभ निकल रहा है किन्तु कोई भी काव्यप्रेमी यह नहीं कह सकता कि यहां किसी प्रकार का अनुहरण अथवा छायालम्बन सम्भव है।

वाल्मीकि रामायण के ही ऊपर उद्धृत श्लोक में प्रयुक्त 'महर्षिकल्पो राजर्षिः' इस पद सन्दर्भ को देखिये जो कि महाकवि के अभिज्ञानशाकुन्तल की निम्नलिखित सूक्ति का 'आदर्श' है[3]—

अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाप्याश्रमे सर्वभोग्ये
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति।
अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः॥

किन्तु कौन कह सकता है कि कालिदास की उपर्युक्त सूक्ति में वाल्मीकि का अनुकरण दिखाई देता है। वाल्मीकि रामायण के नीचे उद्धृत श्लोकों को देखिये[4]—

प्राप्ते यूपोच्छ्रये तस्मिन् षड् बैल्वाः खादिरास्तथा।
तावन्तो बिल्वसहिताः पर्णिनश्च तथा परे॥

१. रामायण बालकाण्ड ६.२। २. रघुवंश ९.७।
३ अभिज्ञानशाकुन्तल २.१४।
४. वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड १४.२२-२७।

श्लेष्मातकमयो दिष्टो देवदारुमयस्तथा ।
द्वावेव तत्र विहितौ बाहुव्यस्तपरिग्रहौ ॥
कारिताः सर्व एवैते शास्त्रज्ञैर्यज्ञकोविदैः ।
शोभार्थं तस्य यज्ञस्य काञ्चनालंकृताभवन् ॥
एकविंशतियूपास्ते एकविंशत्यरत्नयः ।
वासोभिरेकविंशद्भिरेकैकं समलंकृताः ॥
विन्यस्ता विधिवत् सर्वे शिल्पिभिः सकृताद्दढाः ।
अष्टास्रयः सर्व एव श्लक्ष्णरूपसमन्विताः ॥
आच्छादितास्ते वासोभिः पुष्पैर्गन्धैश्च पूजिताः ।
सप्तर्षयो दीप्तिमन्तो विराजन्ते यथा दिवि ॥

और इन्हीं श्लोकों के अभिप्राय संग्रह में रचित रघुवंश का यह श्लोक भी देखिये[1]—

क्रतुषु तेन विसर्जितमौलिना भुजसमाहृतदिग्वसुना कृताः ।
कनकयूपसमुच्छ्रयशोभिनो वितमसा तमसासरयूतटाः ॥

यहां यह स्पष्ट है कि कालिदास की प्रतिभा कितनी मौलिक है जहां वाल्मीकि ने कई प्रकार के यज्ञीय यूपों को कई श्लोकों में गिनाया है वहां कालिदास ने एक श्लोक में उनकी पावनता के प्रभाव से तमसा और सरयू के तटों अथवा अयोध्या के पर्यन्तवर्ती भूभागों की वितमस्कता की अभिव्यञ्जना कर दी है ।

इसी नवम सर्ग में रघुवंश का 'वसन्त वर्णन' प्रसंग भी आता है जो वाल्मीकि रामायण में नहीं है । वाल्मीकि रामायण में, दशरथ के मृगयाविहार और मुनिपुत्र पर उनके वाण प्रहार की घटना का समय वर्षा काल प्रतिपादित है जैसा कि नीचे लिखे श्लोकों में स्पष्ट है[2]—

देव्यनूढा त्वमभवो युवराजो भवाम्यहम् ।
ततः प्रावृडनुप्राप्ता मम कामविवर्धिनी ॥
अपास्य हि रसान् भौमांस्तप्त्वा च जगदंशुभिः ।
परेताचरितां भीमां रविराचरते दिशम् ॥
उष्णमन्तर्दधे सद्यः स्निग्धा ददृशिरे घनाः ॥
ततो जहृषिरे सर्वे भेकसारङ्गबर्हिणः ॥

---

१. रघुवंश ९.२० ।

२. रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ६३ १४-२० ।

क्लिन्नपक्षोत्तराः स्नाताः कृच्छ्रादिव पतत्त्रिणः ।
वृष्टिवातावधूताग्रान् पादपानभिपेदिरे ॥
पतितेनाम्भसा च्छन्नः पतमानेन चासकृत् ।
आबभौ मत्तसारंगस्तोयराशिरिवाचलः ॥
पाण्डुरारुणवर्णानि स्रोतांसि विमलान्यपि ।
सुस्रुवुर्गिरिधातुभ्यः सभस्मानि भुजंगवत् ॥
तस्मिन्नतिसुखे काले धनुष्मानिषुमान् रथी ।
व्यायामकृतसंकल्पः सरयूमन्वगां नदीम् ॥

किन्तु रघुवंशकार ने इन घटनाओं का वसन्तागम में घटित होते वर्णन किया है[१]—

अथ यथासुखमार्तवमुत्सवं समनुभूय विलासवतीसखः ।
नरपतिश्चकमे मृगयारतिं स मधुमन्मधुमन्मथसन्निभः ॥

रघुवंश के 'द्रुतविलम्बित' में 'वसन्त' का वैभव कितना हृदयाकर्षक है इसे रघुवंश के रसिक अच्छी तरह जानते हैं । रघुवंश के वसन्त वर्णन का यह श्लोक देखिये[२]—

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम् ।
इति यथाक्रममाविरभून्मधु द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम् ॥

इसमें वसन्त के कहीं 'द्रुत' और कहीं 'विलम्बित' आगमन की अभिव्यञ्जना वृत्त की विशेषता से ही हो जाती है ।

दशरथ का मृगयाविहार जैसा रामायण में वर्णित है वैसा ही रघुवंश में नहीं । रामायण में दशरथ का आखेट इन श्लोकों में देखिये[३]—

निपाने महिषं रात्रौ गजं वाभ्यागतं मृगम् ।
अन्यद् वा श्वापदं किंचिज्जिघांसुरजितेन्द्रियः ॥
अथान्धकारे त्वश्रौषं जले कुम्भस्य पूर्यतः ।
अचक्षुर्विषये घोषं वारणस्येव नर्दतः ॥
ततोऽहं शरमुद्धृत्य दीप्तमाशीविषोपमम् ।
शब्दं प्रति गजप्रेप्सुरभिलक्ष्यमपातयम् ॥

और रघुवंश में दशरथ के आखेट पर, कालिदास की सूक्तियों पर ध्यान दीजिये[४]—

---

१. रघुवंश ९.४८ । २. वही ९.२६ ।
३. रामायण अयोध्याकाण्ड ६२.२१-२३ । ४. रघुवंश ९.५३,५५-५८ ।

श्वगणिवागुरिकैः प्रथमास्थितं
व्यपगतानलदस्यु विवेश सः ।
स्थिरतुरंगमभूमि निपानव-
न्मृगवयोगवयोपचितं वनम् ॥

तस्य स्तनप्रणियिभिर्मुहुरेणशावै-
र्व्याहन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात् ।
आविर्बभूव कुशगर्भमुखं मृगाणां
यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् ॥

तत्प्रार्थितं जवनवाजिगतेन राज्ञा
तूणीमुखोद्धृतशरेण विशीर्णपंक्तिः ।
श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातै-
र्वातेरितोत्पलदलप्रकटैरिवार्द्रैः ॥

लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः
प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् ।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी
बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसञ्जहार ॥

तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः
कर्णान्तमेत्य बिभिदे निबिडोऽपि मुष्टिः ।
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरतः सुनेत्रैः
प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि ॥

इन सूक्तियों में कालिदास के काव्यात्मक व्यक्तित्व की वे विशेषतायें अन्तर्व्याप्त हैं जिनका दर्शन अभिज्ञान शाकुन्तल में दुष्यन्त के मृगयाविहार के वर्णन प्रसंग में ही सम्भव है अन्यत्र नहीं ।

रघुवंश के नवम सर्ग मे मृगया वर्णन का एक श्लोक देखिये[1]—

इति विस्मृतान्यकरणीयमात्मनः
सचिवावलम्बितधुरं धराधिपम् ।
परिवृद्धरागमनुबन्धसेवया
मृगया जहार चतुरेव कामिनी ॥

इस श्लोक के सुन्दर भाव का अनुहरण अन्य कवि कृत मृगया वर्णन में

---

१. रघुवंश ९.६९ ।

कहीं नहीं दिखाई देता। इसका अनुहरण एक दृष्टि से कालिदास के निम्नलिखित श्लोक में ही देखा जा सकता है[1]—

कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदङ्गनादिषु।
ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः ॥

रघुवंश के इसी नवम सर्ग में एक नए वृत्त का बन्ध देखिये[2]—

हा तातेतिक्रन्दितमाकर्ण्य विषण्ण-
स्तस्यान्विष्यन्वेतसगूढं प्रभवं सः।
शल्यप्रोतं प्रेक्ष्य सकुम्भं मुनिपुत्रं
तापादन्तःशल्य इवासीत् क्षितिपोऽपि ॥

इस वृत्त का नाम 'मत्तमयूर' वृत्त है। इस वृत्त में ऐसा प्रतीत होता है मानो वाल्मीकि रामायण के इन श्लोकों के शोकभाव पर कालिदास का मनमयूर व्याकुलता में नाच उठा है।[3]—

हा हेति पततस्तोये बाणाद् व्यथितमर्मणः।
तस्मिन्निपतिते भूमौ वागभूत् तत्र मानुषी ॥
कथमस्मद्विधे शस्त्रं निपतेच्च तपस्विनि ।
प्रविविक्तां नदीं रात्रावुदाहारोहमागतः ॥
इषुणाभिहतः केन कस्य वापकृतं मया।
ऋषेर्हि न्यस्तदण्डस्य वने वन्येन जीवतः ॥
कथं नु शस्त्रेण वधो मद्विधस्य विधीयते।
जटाभारधरस्यैव वल्कलाजिनवाससः ॥
को वधेन ममार्थो स्यात् किं वास्यापकृतं मया।
एवं निष्फलमारब्धं केवलानर्थसंहितम् ॥
न क्वचित् साधु मन्येत यथैव गुरुतल्पगम् ।
नेमं तथानुशोचामि जीवितक्षयमात्मनः ॥
मातरं पितरं चोभावनुशोचामि मद्वधे।
तदेतन्मिथुनं वृद्धं चिरकालभृतं मया ॥
मयि पञ्चत्वमापन्ने कां वृत्तिं वर्तयिष्यति।
वृद्धौ च मातापितरावहं चैकेषुणा हतः ॥

---

१. वही १९.५। २. वही ९.७५।

३. रामायण अयोध्याकाण्ड ६२ २५ ३५।

केन स्म निहताः सर्वे सुबालेनाकृतात्मना।
तां गिरं करुणां श्रुत्वा मम धर्मानुकांक्षिणः॥
कराभ्यां सशरं चापं व्यथितस्यापतद् भुवि।
तस्याहं करुणं श्रुत्वा ऋषेर्विलपतो निशि॥
सम्भ्रान्तः शोकवेगेन भृशमास विचेतनः।
तं देशमहमागम्य दीनसत्त्वः सुदुर्मनाः॥

राम के चरितचित्रण में कालिदास की मौलिक विशेषता

रघुवंश के दशम सर्ग में रामजन्म तथा राम के बाल्यकाल आदि के शब्द चित्र खिंचे हुए हैं। कालिदास ने वाल्मीकि के रामायण के आधार पर ही इन प्रसंगों को अपने काव्यात्मक निरूपण का विषय बनाया है किन्तु इन प्रसंगों में जैसे कालिदास ने वाल्मीकि का अनुहरण किया है वैसे ही राम काव्य की रचना करने वाले, कालिदास के बाद संस्कृत अथवा हिन्दी के कवियों ने कालिदास के अनुहरण में अपनी कविप्रतिभा का प्रसार किया है। उदाहरण के लिए वाल्मीकि रामायण का यह श्लोक लीजिये[१]—

तस्य चैवंप्रभावस्य धर्मज्ञस्य महात्मनः।
सुतार्थं तप्यमानस्य नासीद् वंशकरः सुतः॥

यही श्लोक रघुवंश की निम्नलिखित सूक्तियों का आधार है[२]—

पृथिवीं शासतस्तस्य पाकशासनतेजसः।
किञ्चिदूनमनूनर्द्धेः शरदामयुतं ययौ॥
न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम्।
सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोऽपहम्॥

किन्तु कालिदास की 'सुताभिधान ज्योति' की कल्पना उनकी मौलिक कल्पना है। यह कल्पना वाल्मीकि के रामायण में नहीं दिखाई देती।

वाल्मीकि ने पुत्रजन्म की कामना लिए दशरथ के पुत्रेष्टियज्ञ का बड़े विस्तार से वर्णन किया है और यज्ञ समारम्भ के सभी उपकरणों को अपने वर्णन का विषय बनाया है। कालिदास ने भी अपने रघुवंश में पुत्रेष्टियज्ञ का उल्लेख किया है किन्तु इस उल्लेख में रामायण के वर्णनों की छाया नहीं अपितु समसामयिक साहित्य और समाज की राम सम्बन्धी धारणाओं की छाया दिखाई देती है जिसके काव्यात्मक निरूपण में कालिदास की मौलिकता ही प्रकाशित होती है। रघुवंश के दशम सर्ग के कई श्लोकों (१५–३२) में

१. रामायण बालकाण्ड ८. १। २. रघुवंश १०.१-२।

भगवान विष्णु की स्तुति है जिसकी रूपरेखा रामायण में नहीं झलकती। इन्हीं श्लोकों में यह निम्नलिखित श्लोक भी जिसमें श्रीमद् भगवद्गीता के श्लोकों का छायानुसरण भी दृष्टिगोचर होता है[1]—

अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः॥

इस श्लोक के साथ श्रीमद्भगवद्गीता के निम्नोद्धृत श्लोकों को देखने से कालिदास के गीतानुहरण की बात पुष्ट हो जाती है[2]—

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥
... ...
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

इसी सर्ग में कालिदास का निम्नोद्धृत श्लोक देखिये[3]—

रघुवंशप्रदीपेन तेनाप्रतिमतेजसा।
रक्षागृहागता दीपाः प्रत्यादिष्टा इवाभवन्॥

इस श्लोक का भाव पहले भी रघुवंश के निम्नलिखित श्लोक में आ चुका है[4]—

रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम्।
न कारणात्स्वाद्बिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्॥

किन्तु यहां कोई पुनरुक्ति नहीं अपितु रामायण के रघुवंश में अवतरित होने की अभिव्यञ्जना है। राम रघुवंश के प्रदीप हैं जिनके लोकोत्तर चरित से राम के पूर्वज तथा राम के वंशज दोनों प्रकाशमय हो जाते हैं।

कालिदास ने राम के चरित निरूपण में वाल्मीकि रामायण की अपेक्षा कई एक भिन्न कल्पनायें की हैं जो कि रघुवंश के निर्माण की युक्तियों के रूप में प्रतीत होती हैं। इन्हीं में एक वह है जिसे निम्नलिखित श्लोकों में देखा जा सकता है[5]—

कौशिकेन स किल क्षितीश्वरो राममध्वरविघातशान्तये।
काकपक्षधरमेत्य याचितस्तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते॥
कृच्छ्रलब्धमपि लब्धवर्णभाक् तं दिदेश मुनये सलक्ष्मणम्।
अप्यसुप्रणयिनां रघोः कुले न व्यहन्यत कदाचिदर्थिता॥

---

१. रघुवंश १०.३१।
२. भगवद्गीता ३.२०,२२।
३. रघुवंश १०.६८।
४. वही ५.३७।
५. वही ११.१-२।

आदि काव्य रामायण के पाठक यह अच्छी तरह जानते हैं कि महर्षि वाल्मीकि ने इस प्रसंग में दशरथ के दुःख और विश्वामित्र के रोष का वर्णन किया है—

इत्येवमुक्त्वा धर्मात्मा धर्मार्थसहितं वचः।
विरराम महातेजा विश्वामित्रो महामतिः॥
स तन्निशम्य राजेन्द्रो विश्वामित्रवचः शुभम्।
शोकेन महताविष्टश्चचाल च मुमोह च॥
लब्धसंज्ञस्तदोत्थाय व्यषीदत भयान्वितः।
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य स्नेहपर्याकुलाक्षरम्॥
समन्युः कौशिको वाक्यं प्रत्युवाच महीपतिम्।
पूर्वमर्थं प्रतिश्रुत्य प्रतिज्ञां हातुमिच्छसि॥
राघवाणामयुक्तोऽयं कुलस्यास्य विपर्ययः।

सम्भवतः वाल्मीकि की 'राघवाणामयुक्तोऽयं कुलस्यास्य विपर्ययः' इस उक्ति की प्रत्युक्ति के रूप में ही कालिदास की ऊपर उद्धृत यह उक्ति निकली है—

अप्यसुप्रणयिनां रघोः कुले न व्यहन्यत कदाचिदर्थिता॥

महाकवि कालिदास की यह वीरोक्ति ही हिन्दी में महाकवि तुलसीदास की इस वीरोक्ति की प्रेरणा है जिसे रामचरितमानस के प्रेमी बड़े गर्व से कहा करते हैं[1]—

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्राण जाहिं पर वचन न जाई॥

राम के चरित निरूपण के प्रसंग में इस श्लोक को देखिये[2]—

प्रत्यपद्यत चिराय यत्पुनश्चारु गौतमवधूः शिलामयी।
स्वं वपुः स किल किल्बिषच्छिदां रामपादरजसामनुग्रहः॥

इस श्लोक का भाव वाल्मीकि रामायण में ढूँढ़ने से भी नहीं मिलेगा। यह श्लोक कालिदास की रामभक्ति का अभिव्यञ्जक श्लोक है। इससे हिन्दी के महाकवि तुलसीदास की प्रतिभा प्रोत्साहित हुई है। रामचरितमानस के निम्नलिखित प्रसंग कालिदास की इस सूक्ति के अर्थ सर्वस्व के ऋणी हैं[3]—

दो० गौतम नारी साप बस उपल देह धरि धीर।
चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर॥

---

१. तुलसीदास रामचरितमानस। २. रघुवंश ११.३४।
३. तुलसीदास रामचरितमानस।

छं० परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही।
देखत रघुनायक जन सुखदायक सनमुख होइ कर जोरी रही॥
... ...

दो० अस प्रभु दीनबन्धु हरि कारन रहित दयाल।
तुलसिदास सठ तेहि भजु छाड़ि कपट जंजाल॥

सीता के निरूपण में कालिदास की विशेषता

वाल्मीकि रामायण की सीता कालिदास के रघुवंश की सीता के रूप में अवतीर्ण हुई है किन्तु उसमें वाल्मीकि वर्णित सीता की अनुहृति अथवा प्रतिकृति का दर्शन नहीं होता अपितु एक सुन्दर मौलिक व्यक्तित्व का ही दर्शन होता है। वाल्मीकि ने नववधू के रूप में सीता का वर्णन इस श्लोक में किया है[1]—

ततः सीतां समानीय सर्वाभरणभूषिताम्।
समक्षमग्नेः संस्थाप्य राघवाभिमुखे तदा॥
अब्रवीज्जनको राजा कौसल्यानन्दवर्धनम्।
इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव॥
प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना।
पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा॥

किन्तु कालिदास के रघुवंश में नववधू सीता 'रूपधारिणी श्री' के रूप में चित्रित हुई है[2]—

दृष्टसारमथ रुद्रकार्मुके वीर्यशुल्कमभिनन्द्य मैथिलः।
राघवाय तनयामयोनिजां रूपिणीं श्रियमिव न्यवेदयत्॥

राम और सीता आदि के विवाहबन्धन में परस्पर बन्धन भी कालिदास के रघुवंश में एक नए ही रूप में प्रतिपादित है[3]—

ता नराधिपसुता नृपात्मजैस्ते च ताभिरगमन्कृतार्थताम्।
सोऽभवद्वरवधूसमागमः प्रत्ययप्रकृतियोगसन्निभः॥

यहाँ प्रत्यय और प्रकृति के योग की कल्पना में राम और सीता के वैवाहिक सम्बन्ध की कल्पना कालिदास की विशेषता है। इसे वाल्मीकि रामायण में कहीं नहीं देखा जा सकता है।

---

१. रामायण बालकाण्ड ७३.२५-२७।
२. रघुवंश ११.४७। ३. वही ११.५६।

गङ्गा यमुना सङ्गम के वर्णन में कालिदास की मौलिकता

आदिकवि वाल्मीकि ने गङ्गावतरण का जैसा ओजस्वी वर्णन किया है उससे संस्कृत के काव्यपाठक पूर्णतया परिचित हैं। कालिदास ने गङ्गावतरण के बदले गङ्गा-यमुना सङ्गम के वर्णन में अपनी कविप्रतिभा प्रकाशित की है। गङ्गा-यमुना सङ्गम पर रची कालिदास की ये नीचे लिखी सूक्तियाँ संस्कृत और संस्कृतेतर सभी भाषाओं के भारतीय कवियों के लिए अनुकरणीय आदर्श बन चुकी हैं[1]—

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सितपंकजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव॥
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिः भुवश्चन्दनकल्पितेव॥
क्वचित् प्रभा चान्द्रमसीतमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेशा॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्मांगरागा तनुरीश्वरस्य।
पश्यानवद्यांगि विभाति गंगा भिन्नप्रवाहा यमुनातरंगैः॥

रघुवंश के रसभाव उन्मीलन में कालिदास की मौलिकता

कालिदास के लिए महर्षि वाल्मीकि 'आदिकवि' हैं। वाल्मीकि के प्रति अपने आन्तरिक आत्मिक प्रेम की अभिव्यक्ति में ही कालिदास के रघुवंश का यह श्लोक रचित है[2]—

स पृष्टः सर्वतो वार्तमाख्यद्राज्ञे न सन्ततिम्।
प्रत्यर्पयिष्यतः काले कवेराद्यस्य शासनात्॥

आदिकवि के काव्य-शासन का प्रभाव संस्कृत के कवियों में जितना कालिदास पर पड़ा है उतना किसी भी दूसरे कवि पर नहीं पड़ा। किन्तु आदिकवि वाल्मीकि के बाद कालिदास ही सबसे मौलिक कवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इस प्रतिष्ठा का परमकारण कालिदास की मौलिक रस-भावना है जिसके प्रभाव में रघुवंश की अनुपम सृष्टि हुई है। रामायण की शोकभावना ही कालिदास के रघुवंश के विविध रसभावों की अन्तःसलिला सरस्वती है। किन्तु रघुवंश में उन्मीलित शृंगार और वीर की गंगा-यमुना की सृष्टि और उनके सङ्गम में कालिदास सर्वथा मौलिक हैं।

कालिदास का 'शृंगार' रघुवंश के आरम्भ से अन्त तक, महाराज दिलीप के चरितचित्रण से लेकर अग्निवर्ण के चरितचित्रण तक प्रवाहित होता है किन्तु

१ रघुवंश १३.५४-५७। २. वही १५.४१।

इसके प्रवाह में मानव प्रेम की समस्त विशेषतायें दिखाई दे जाती हैं। दिलीप और सुदक्षिणा के पारस्परिक रतिभाव का यह 'अमर चित्र' देखिये[१]—

रथांगनाम्नोरिव भाववन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम्।
विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत॥

कालिदास के इस प्रेम चित्रण की सर्वाधिक तीव्र भावना महाकवि भवभूति को सबसे पहले हुई। भवभूति की निम्नलिखित सूक्ति उनकी इस तीव्र भावना का ही परिणाम है[२]—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्प्रेमसारे स्थितं,
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राध्र्यते॥

दिलीप और सुदक्षिणा के रतिभाव के सर्वथा विलक्षण रतिभाव का भी चित्रण रघुवंश में है जिसे अग्निवर्ण के चरितचित्रण से सम्बद्ध निम्नलिखित सूक्तियों में देखा जा सकता है[३]—

अङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे।
वल्लकी च हृदयंगमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना॥
क्लृप्तपुष्पशयनांल्लतागृहानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः।
अन्वभूत्परिजनाङ्गनारतं सोऽवरोधभयवेपथूत्तरम्॥

इसी भाँति सम्राट् रघु के चरितचित्रण में कालिदास ने जिस वीररस की सृष्टि की है उसकी अपेक्षा महाराज अज, दशरथ, राम और लव-कुश आदि के चरितचित्रणों में वीररस की सृष्टि एक विशिष्ट सृष्टि ही लगती है। वीररस की इन अभिव्यञ्जनाओं में कही कोई पुनरुक्ति नहीं दिखाई देती है।

श्रृंगार और वीररस की गङ्गा-यमुना में कहीं करुण की छोटी-बड़ी नदियाँ मिलती हैं, कहीं हास-परिहास के झरने मिलते हैं और कहीं वात्सल्य के सूक्ष्म स्रोत का भी दर्शन होता है। रस की सृष्टि में कालिदास अपनी कल्पना के 'देवतात्मा' हिमालय की भांति दिखाई देते हैं। जैसे हिमालय से निकली सरितायें अक्षय जल का स्रोत वहन करती प्रवाहित होती हैं वैसे ही कालिदास से निकली रघुवंश के रस की सरिताएँ अक्षय स्रोत है जिन्होंने बाद में संस्कृत काव्य-साहित्य को आप्लावित किया है।

---

१. वही ३.२४। २. उत्तररामचरित १ ३९। ३. रघुवंश १९ १३,२३।

'रघुवंश' और कुमारदास का 'जानकीहरण' मौलिकता और अनुहरण की कसौटी पर

वाल्मीकि रामायण के वृत्त चरित के अनुसरण में ही 'जानकीहरण' महाकाव्य की रचना हुई है। 'जानकीहरण' का रचयिता कुमारदास छठी-सातवीं शताब्दी पर वाल्मीकि का भी प्रभाव है और रघुवंश के महाकवि कालिदास का भी। कालिदास की पद पदार्थ योजना शैली के अनुसरण में, कुमारदास की शैली जन्म लेती है और वाल्मीकि वर्णित 'जानकी-हरण' के वृत्त का रामायण के अन्यान्य वृत्तों की योजना के साथ साथ वर्णन करने में पूर्णरूप से समर्थ दिखाई देती है। कुमारदास का 'जानकीहरण' संस्कृत के काव्यसमीक्षकों के लिए एक 'अपूर्व काव्य' रह चुका है। कुमारदास की 'अपूर्व काव्यकृति' की प्रशंसा में एक प्रसिद्ध श्लोक चला आ रहा है जिसे राजशेखर का श्लोक कहा जाता है। यह श्लोक निम्नलिखित है—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमः॥

इस श्लोक में रघुवंश की समानता में 'जानकीहरण' की विचित्रता अथवा नवीनता की अभिव्यक्ति छिपी है। रघुवंश की काव्यात्मक प्रेरणा एक नवीन काव्य की सृष्टि की प्रेरणा हो सकती है—इसका सबसे पहला प्रभाव कुमारदास का जानकीहरण है।

जानकीहरण के काव्यात्मक वर्णन : कालिदास के अनुहरण में कुमारदास की मौलिकता का उन्मेष

हम जानकीहरण के प्रथम सर्ग को ही लेते हैं। इस सर्ग में अयोध्यावर्णन, दशरथवर्णन, अन्तःपुरवर्णन तथा मृगया विहार वर्णन ये चार प्रमुख काव्य-वर्णन के प्रसंग हैं। इनमें अयोध्यावर्णन को देखिये। वाल्मीकि का अयोध्या-वर्णन अयोध्या की वस्तुस्थिति का स्वाभाविक वर्णन है जैसा कि निम्नोद्धृत कतिपय श्लोकों में स्पष्ट है[1]—

कोसलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान्।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान्॥

---

१. रामायण : बालकाण्ड ५.५,६,१५ तथा १९।

अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता ।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम् ॥
प्रासादै रत्नविकृतैः पर्वतैरिव शोभिताम् ।
कूटागारैश्च सम्पूर्णामिन्द्रस्येवामरावतीम् ॥
विमानमिव सिद्धानां तपसाधिगतं दिवि ।
सुनिवेशितवेश्मान्तां नरोत्तमसमावृताम् ॥

किन्तु कुमारदास ने अपने 'जानकीहरण' के अयोध्यावर्णन में, इन श्लोकों के भावानुहरण के साथ साथ प्राचीन तथा समकालीन काव्यपरम्परा का भी अनुसरण किया है, जिससे उनकी कविप्रतिभा का विकास होता चला गया है। कुमारदास की दृष्टि में 'अयोध्या' का स्वरूप निम्नलिखित है[1]—

आसीदवन्यामतिभोगभाराद् दिवोऽवतीर्णा नगरीव दिव्या ।
क्षत्रानलस्थानशमीसमृद्ध्या परामयोध्येति पुरी परार्ध्याम् ॥

इस श्लोक में 'समृद्धया परामयोध्येति पुरी परार्ध्या' में वर्णन वैखरी की जो विशेषता है वह रामायण की वर्णनवैखरी के अनुहरण का परिणाम नहीं अपितु महाकवि अश्वघोष की काव्यकृतियों की वर्णनवैखरी की छाया है। वाल्मीकि की 'अयोध्या नगरी' के भोगविलास के साधन 'अतिभोगभारात्' इस एक पद के द्वारा अभिव्यक्त किये जा रहे हैं, साथ ही साथ कुमारदास ने अयोध्या में 'क्षत्रानलस्थानशमी' की जो कल्पना की है जिसमें वाल्मीकि के कई श्लोकों का भाव अन्तर्निहित है, वह एक मौलिक कल्पना है। इस कल्पना की मौलिकता में 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की निम्नलिखित सूक्ति का कुछ हाथ अवश्य दिखाई देता है[2]—

दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः ।
अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव ॥

अथवा इसमें रघुवंश की निम्नलिखित सूक्ति की छाया झलकती दिखाई देती है[3]—

निधानगर्भामिव सागराम्बरां शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम् ।
नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वतीं नृपः ससत्त्वां महिषीममन्यत ॥

इसी प्रकार कुमारदास के 'दशरथ वर्णन' में वाल्मीकि रामायण के 'दशरथ वर्णन' के विषयों की ही विशेषताओं का अनुगमन है किन्तु यह अनुगमन ऐसा

---

१. जानकीहरण १.१ । २. अभिज्ञानशाकुन्तल ४.३ ।
३. रघुवंश ३.९ ।

है जिसे 'अनुकरण' नहीं कहा जा सकता है। वाल्मीकि ने दशरथ का स्वभाव वर्णन किया है जैसा कि निम्नलिखित श्लोक में पता चलता है[१]—

तां पुरीं स महातेजा राजा दशरथो महान्।
शशास शमितामित्रो नक्षत्राणीव चन्द्रमाः॥

इस श्लोक के साथ कुमारदास का निम्नोद्धृत श्लोक देखिये जिसमें राजा दशरथ की 'तेजस्विता' एक काव्यात्मक कल्पना से, और भी अधिक तेजोमयी दिखाई दे रही है[२]—

समुद्रमुल्लङ्घ्य गतस्तदीयस्तेजोऽभिधानो गुरुरग्निराशिः।
नितान्तसन्तापितपूर्वकाष्ठः प्रोत्स्वेदयामास नृपं कटाहे॥

वाल्मीकि ने दशरथ की दिग्विजय का कोई वर्णन नहीं किया था। किन्तु कुमारदास ने कालिदास के 'रघुवंश' में वर्णित रघु की दिग्विजय के प्रभाव में दशरथ की दिग्विजय का चित्र खींच दिया है। कुमारदास का किया दशरथ का दिग्विजय वर्णन, रघुवंश में रघु के दिग्विजयवर्णन का अनुकरण नहीं अपितु छायानुहरण-सा लगता है।

जानकीहरण में राजा दशरथ के अन्तःपुर का जो वर्णन है उस पर महाकवि कालिदास के 'कुमारसम्भव' के पार्वती वर्णन की छाया दिखाई दे जाती है। जानकीहरण की निम्नलिखित सूक्ति देखिये[३]—

तत्केशपाशावजितात्मबर्हभारस्य वासः शिखिनो वनेषु।
चक्रे जनस्य स्पृशतीति शङ्का चेतस्तिरश्चामपि जातु लज्जाम्॥

इसमें कौसल्या के केश-सौन्दर्य का जो वर्णन है उस पर कुमारसम्भव के पार्वती के केश-सौन्दर्य-वर्णन का प्रभाव स्पष्ट है[४]—

लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्यादसंशयं पर्वतराजपुत्र्याः।
तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्युर्वालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः॥

कुमारदास ने महाराज दशरथ के आखेट का बड़ा विशद वर्णन किया है। वाल्मीकि रामायण में भी दशरथ के मृगयाविहार पर कुछ श्लोक हैं किन्तु कुमारदास ने इनका अनुसरण करने की अपेक्षा महाकवि कालिदास के रघुवंश में दशरथ के आखेट वर्णन का अनुहरण किया है और इस अनुहरण में अपनी मौलिक कवि प्रतिभा का भी प्रकाशन किया है। इस प्रसंग में कुमारदास की एक उक्ति देखिये[५]—

---

१. रामायण: बालकाण्ड ६.२७। २. जानकीहरण १.१७।
३. जानकीहरण १.४१। ४. कुमारसम्भव १.४८।
५ जानकीहरण १.५७।

अन्योन्यवक्त्रार्पितपल्लवाग्रग्रासं नृवीरस्य कुरङ्गयुग्मम् ।
प्रियानुनीतौ भृशमिष्टचाटुचेष्टस्य घाताभिरतिं निरासे ॥

इस उक्ति में कालिदास के 'कुमारसम्भव' की निम्नलिखित सूक्ति के रसभाव का सञ्चार है[1]—

मधुः द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ॥

और साथ ही साथ रघुवंश के निम्नलिखित श्लोक की भी सुन्दर छाया झलक रही है[2]—

लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः
प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् ।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी
बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसञ्जहार ॥

कालिदास के 'कुमारसम्भव' के अनुशीलन में कुमारदास की प्रतिभा का विकास

'जानकीहरण' के दूसरे सर्ग में रावण के अत्याचार से पीड़ित देववृन्द का वर्णन तथा देववृन्द के द्वारा विष्णु स्तवन—ये दो मुख्य विषय हैं । इन विषयों के निरूपण में महाकवि कालिदास के काव्यों के प्रति कुमारदास की अनुरक्ति की अभिव्यक्ति अत्यन्त स्पष्ट रूप से दिखलाई देती है । जानकीहरण का निम्नलिखित श्लोक देखिये[3]—

प्रबलारिबलप्राणविक्रियाहेतुहेतयः ।
किं नु स्कन्नौजसो जाता देवा देवव्रता इव ॥

और कुमारसम्भव के निम्नोद्धृत श्लोक से इसे मिलाइये[4]—

किमिदं द्युतिमात्मीयां न बिभर्ति यथा पुरा ।
हिमक्लिष्टप्रकाशानि ज्योतींषीव मुखानि वः ॥

कुमारदास का श्लोक कालिदास के श्लोक के अनुशीलन के आनन्द में निकला है, कालिदास के श्लोक के अनुकरण के रूप में नहीं । कालिदास ने उपमा की योजना से अपने विषय को प्रभावशाली बनाया है और कुमारदास ने 'उत्प्रेक्षा' के द्वारा अपनी उक्ति की ओजस्विता प्रदर्शित की है ।

---

१. कुमारसम्भव ३.३६ । २. रघुवंश ९.५७ ।
३. जानकीहरण २.२० । ४. कुमारसम्भव २.१९ ।

रावण के प्रताप से 'चन्द्रदेव' की दुर्दशा के वर्णन में कुमारदास का यह श्लोक है[१]—

निवृत्ततत्सरःपद्मस्वापकारणतेजसा ।
बोधनीयं किलाशेषमिन्दुना कौमुदं वनम् ॥

यह श्लोक कुमारसंभव के निम्नलिखित श्लोक की छाया के अनुगमन में भी अपना प्रभाव अक्षुण्ण रखता है[२]—

सर्वाभिः सर्वदा चन्द्रस्तं कलाभिर्निषेवते ।
नादत्ते केवलां लेखां हरचूडामणीकृताम् ॥

इसी भांति जानकीहरण का यह श्लोक लीजिये जिसमें रावण के भय से त्रस्त 'वायुदेव' का वर्णन है[३]—

लब्धसेवावकाशः सन् सेवते तं समीरणः ।
रतिक्लमथुमद्देहं तरंगान्तरगोचरः ॥

और इसके साथ-साथ कुमारसंभव के निम्नलिखित श्लोक का दर्शन कीजिये[४]—

व्यावृत्तगतिरुद्याने, कुसुमस्तेयसाध्वसात् ।
न वाति वायुस्तत्पार्श्वे तालवृन्तानिलाधिकम् ॥

कालिदास का श्लोक, मार्ग का प्रथम निर्माण है और कुमार दास का श्लोक, मार्ग का प्रथम अनुगमन ।

जानकी हरण की निम्नलिखित काव्यात्मक सूक्ति देखिये[५]—

पातालहृदयान्तःस्थं पद्मरागं पयोनिधिः ।
अग्रमांसमिवोद्धृत्य ददाति पिशिताशिने ॥

इसमें कुमारम्भव की इस सूक्ति की प्रेरणा का अनुभव कीजिये[६]—

तस्योपायनयोग्यानि रत्नानि सरितां पतिः ।
कथमप्यम्भसामन्तरानिष्पत्तेः प्रतीक्षते ॥

कुमारसम्भव के वसन्त वर्णन ने कुमारदास की प्रतिभा को अत्यधिक प्रोत्साहित किया है । ऐसा प्रतीत होता है मानो कुमारदास के हृदय पटल पर कालिदास के कुमारसम्भव का 'वसन्त-वर्णन-काव्य' उत्कीर्ण हो । कालिदास के वसन्त वर्णन काव्य के प्रति स्पर्द्धा की भावना में जानकीहरण के

---

१. जानकीहरण २.५८ । २. कुमारसंभव २.३४ ।
३. जानकीहरण २.६० । ४. कुमारसंभव २.३५ ।
५. जानकीहरण २.६१ । ६. कुमारसंभव २.३७ ।

तृतीय सर्ग में वसन्त ऋतु का विशद वर्णन दिखलाई देता है। वसन्त ऋतु के आगमन की सूचना जैसे कालिदास ने सूर्य के उत्तरायण-प्रयाण के सरस चित्रण द्वारा दी है जैसा कि उनकी निम्नलिखित सूक्ति का अभिप्राय है[1]—

कुबेरगुप्तां दिशमुष्णरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समयं विलंघ्य।
दिग् दक्षिणा गन्धवहं मुखेन व्यलीकनिःश्वासमिवोत्ससर्ज॥

वैसे ही कुमार दास ने भी, सूर्य के उत्तरायण-प्रयाण के एक मौलिक निरूपण द्वारा, वसन्त ऋतु के आगमन का भव्य-वर्णन किया है[2]—

भ्रान्त्वा विवस्वानथ दक्षिणाशामालभ्य सर्वत्र करप्रसारी।
ऋत्विक् ततो निःस्व इव प्रतस्थे वसूपलब्ध्यै धनदस्य वासम्॥

दोनों काव्यों में सूर्य के उत्तरायण-प्रयाण का ही विषय वर्णित है किन्तु भिन्न ढंग से। कालिदास के 'कुमारसम्भव' में सूर्य का वर्णन एक ऐसे प्रेमी के रूप में है जो कि अपनी दो प्रेमिकाओं —उत्तरदिशा और दक्षिणदिशा—से एक समान प्रेम भाव रखता है और एक के पास हो जाने में जैसे उत्कण्ठित होता है वैसे ही दूसरी के पास से हटने में भी व्यथित होता है। किन्तु कुमारदास ने सूर्य के रूप में, एक निर्धन ऋत्विक् के रूप का संश्लिष्ट वर्णन किया है जिसमें सूर्य के दक्षिण दिशा से याचना में निराश होने पर, उत्तर दिशा की ओर आशा से हाथ फैलाये (कर प्रसारी) दृष्टिगत होता है। कालिदास की सूक्ति में शब्दशक्तिमूल ध्वनि का सौन्दर्य है और कुमारदास की सूक्ति में रूपक की आभा से मण्डित उत्प्रेक्षा की शोभा भी देखते ही बनती है। ध्वनिकार आनन्द वर्धन की दृष्टि में इस प्रकार की काव्यसूक्तियां परस्पर मौलिक मानी जाती हैं, जिनमें एक में वही विषय एक प्रकार से प्रतिपादित होता है. और दूसरे में दूसरे प्रकार से।

जानकीहरण के तृतीय सर्ग का यह तीसरा श्लोक देखिये जिसमें चम्पा के फूल, वसन्तऋतु के स्वागत में, प्रसन्नता में फूले दिखाई दे रहे हैं—

वृक्षा मनोज्ञद्युतिचम्पकाख्या रूपं वितेनुर्नवकुड्मलाढ्याः।
न्यस्ता वसन्तस्य वनस्थलीभिः सहस्रदीपा इव दीपवृक्षाः॥

कुमारदास की 'चम्पा के फूल' पर यह सूक्ति संस्कृत काव्य साहित्य में सर्वथा मौलिक है। इस एक सूक्ति से ही यह निःसन्दिग्ध सिद्ध हो जाता है कि कुमारदास की कविप्रतिभा कालिदास के काव्यों के रसास्वादन में विकसित

---

१ कुमारसम्भव ३,२५। २. जानकीहरण ३.२।

होती है और कालिदास के काव्यों में रसास्वादन से अपने स्वतन्त्र कार्य व्यापार में निरत हो जाती है। कालिदास की दीपशिखा शताब्दियों से संस्कृत के काव्यप्रेमियों को अपनी ओर आकृष्ट करती आ रही है। कुमारदास भी कालिदास की निम्नलिखित सूक्ति में उनकी 'दीपशिखा' का निकट से दर्शन कर चुके होंगे[१]—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥

और इसीलिए कालिदास की दीपशिखा' की सर्वथा नवीन कल्पना की प्रतिस्पर्धा में, उन्होंने अपने दीपवृक्ष की सर्वथा नवीन कल्पना को जन्म दिया। 'दीपशिखा कालिदास' के साथ 'दीपवृक्ष कुमारदास' भी संस्कृत के काव्यजगत् में, एक अमर कवि का ही स्थान पाने योग्य हैं।

कुमारदास के वसन्त वर्णन में 'कर्णिकार' (कनेर) का वही स्थान है जो उसे कालिदास के वसन्त वर्णन में मिल चुका है। कालिदास की कर्णिकार (कनेर) के फूल पर उक्ति देखिये[२]—

वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः॥

और इसी विषय पर रचा कुमारदास का यह निम्नलिखित श्लोक देखिये[३]—

महीध्रमूर्ध्नि भ्रमरेन्दुनीलैर्विभक्तशोभः शिखिकण्ठनीलैः।
गृहीतभास्वन्मुकुटानुकारस्ततान कान्तिं नवकर्णिकारः॥

कालिदास का 'कर्णिकार पुष्प' एक अन्य अर्थ का उपन्यास (अर्थान्तरन्यास) करने के कारण सुन्दर लगता है और कुमारदास के 'कर्णिकार' कुसुम में वस्तु स्वभाव वर्णन का वैचित्र्य झलकता है।

'पलाश' के फूल के काव्यात्मक चित्रण में कालिदास की भाँति कुमारदास की भी कल्पना मौलिक ही है। कुमारदास का पलाशपुष्प वर्णन देखिये[४]—

विनिद्रपुष्पाभरणः पलाशः समुल्लसत्कुन्दलतावनद्धः।
उद्धूतभस्मा मधुनैव रेजे राशीकृतो मन्मथदाहवह्निः॥

इस वर्णन के शब्द, श्रवणमात्र से ही, यह सिद्ध कर देते हैं कि कुमारदास के हृदय में कुमारसम्भव के तीसरे सर्ग के रसभाव भरे हुए हैं तथा उनके मन में कालिदासकृत कुमारसम्भव की इस सूक्ति के सौन्दर्य की स्मृति स्फुरित हो रही है[५]—

---

१. रघुवंश ६.६१। २. कुमारसम्भव ३.२८। ३. जानकीहरण ३.८।
४. वही ३.११। ५. कुमारसम्भव ३.२९।

बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि ।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥

कालिदास का पलाश 'वनस्थली का नखक्षत' दिखाई देता है और कुमार-दास का 'पलाश' मन्मथ-दहन की कल्पना में कालिदास के रम्य-निर्माण का एक मूक स्मारक ।

'जानकीहरण' में कालिदास के अनुहरण में भी कुमारदास की रूप-रेखायें स्पष्ट दिखाई देती हैं—इस बात के समर्थन में, जानकीहरण की अनेकों सूक्तियां सामने आ जाती हैं । उदाहरण के लिए दशरथ के 'सांध्यविहार' वर्णन के इन श्लोकों को देखिये[1]—

आकृष्टदृष्टिर्गगनस्य लक्ष्म्या लक्ष्मीभुजावासरसन्धिभाजः ।
काचित्कुचानम्रतनुर्बभाषे बाला सबालव्यजनैकपाणिः ॥
सकुंकुमस्त्रीकुचमण्डलद्युतिः प्रवासनां चेतसि चिन्तयातुरे ।
निधाय तापं तपनः पतत्यसौ विलोलवीचावपरान्तसागरे ॥
इयं तनुर्वासरसन्धिचारिणी जगत्सृजो विद्रुमभंगलोहिनी ।
समं विधत्ते मुकुलं सरोरुहैर्हिरण्यबाहोरपि हस्तपंकजम् ॥
अयं प्रमाणं पयसः पयोनिधौ निमज्ज्य संदर्शयतीव भानुमान् ।
करेण वीचीवलयस्य मस्तके विभाव्यमानस्फुरिताग्रकोटिना ॥
विकीर्णसन्ध्यारुणितं शतक्रतोर्दिशः प्रदेशादभिनिष्पतत्तमः ।
पतंगतेजःपरितापलोहितं जगत् क्रमेण व्रजतीव निर्वृतिम् ॥

और साथ ही साथ कुमारसम्भव में शिव के 'सांध्यविहार'-वर्णन की इस सूक्ति को देखिये[2]—

तत्र काञ्चनशिलातलाश्रयो नेत्रगम्यमवलोक्य भास्करम् ।
दक्षिणेतरभुजव्यपाश्रयां व्याजहार सहधर्मचारिणीम् ॥

कुमारदास ने, विवाह के समय 'जानकी' का जो चित्रण किया है वह भी रघुवंश में चित्रित 'इन्दुमती' के चित्र की रूपरेखाओं का एक अनुहरण ही है । राजकुमार अज के साथ विवाह के समय 'इन्दुमती' का जो चित्र कालिदास ने प्रस्तुत किया है उसे इन श्लोकों में देखिये[3]—

---

१. जानकीहरण ६३-६७ ।

२. कुमारसम्भव ८.२९ ।

३. रघुवंश ७.२१-२६ ।

हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः स राजसूनुः सुतरां चकासे।
अनन्तराशोकलताप्रवालं प्राप्येव चूतः प्रतिपल्लवेन ॥
आसीद् वरः कंटकितप्रकोष्ठः स्विन्नांगुलिः संववृते कुमारी।
तस्मिन् द्वये तत्क्षणमात्मवृत्तिः समं विभक्तेव मनोभवेन ॥
तयोरपांगप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि ।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥
प्रदक्षिणप्रक्रमणात् कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ॥
नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन ।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ ॥
हविः शमीपल्लवलाजगन्धी पुण्यः कृशानोरुदियाय धूमः।
कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे ॥

कुमारदास के हृदय में 'इन्दुमती' का यह रूप अंकित है। इसलिए सीता का चरितचित्रण करते समय वे इन्दुमती का चरितचित्रण भूल नहीं पाते किन्तु कुमारदास स्वयं एक प्रतिभासम्पन्न कवि हैं इसलिए 'इन्दुमती' के चरित के अनुहरण में, सीता की चरितचर्चा करते हुए भी, उन्होंने सीता के व्यक्तित्व की कुछ नयी रूपरेखायें प्रदर्शित की हैं जिन्हें उनकी निम्नोद्धृत सूक्ति में देखा जा सकता है[१]—

वेद्यामनंसीदनवद्यवृत्तिस्तन्वी ततो वेदविदा प्रयुक्ता।
प्रदक्षिणीकृत्य विवाहसाक्षी कृतं कृशानुं सह राघवेण ॥
गण्डस्य बिम्बं दुहितुर्धरित्र्या घर्माम्भसां बिन्दुरलञ्चकार।
चेतःस्थकन्दर्पकृशानुना वा तस्योष्मणा वा परमार्थवह्नेः ॥
चकार चक्रांकतलेन पाणौ करेण भर्त्राभिनिपीड्यमाने ।
सीत्कारमाकुञ्चितदीर्घदृष्टिः स्पर्शेन वह्नेः किल नाम सीता ॥
व्यापारिता वाङ्मयपारगेण द्विजेन तेन द्विजराजवक्त्रा।
बाला कृशानौ कृशगात्रयष्टिर्भावानभिज्ञाथ जुहाव लाजान् ॥
पत्युः करस्पर्शकृते कृशांग्या हर्षे सखीभिः प्रविभाव्यमाने।
आचारधूमागमलब्धजन्मान्यश्रूणि तत्संवृतये बभूवुः ॥

कालिदास के ऊपर उद्धृत श्लोकों में 'इन्दुमती' का जो चित्र है वह

---

१. जानकीहरण ७.५२-५६ ।

'उपमा' की तूलिका से बना है किन्तु कुमारदास द्वारा चित्रित सीता के चित्र में 'स्वभावोक्ति' की रेखाओं की सुन्दरता है। 'भावानभिज्ञाथ जुहाव लाजान्' इस रेखाचित्र को देखिये जिसकी 'स्वाभाविकता' कालिदास की उपमा नहीं दिखा पाती :

इसी प्रकार नव विवाहित राम के व्यक्तित्व के प्रकाशन में कुमारदास ने, कुमारसम्भव में चित्रित नव विवाहिता शिव के व्यक्तित्व का स्मरण किया है किन्तु अपने अभिप्राय के प्रकाशन में, कालिदास की काव्य शोभा का अपहरण अनुचित समझा। नवविवाहित राम का रूप देखिये जो 'जानकीहरण' के निम्नलिखित श्लोकों में दृष्टिगोचर हो रहा है[1]—

नीत्वा विवाहोत्सवसंभृतेन सुखेन रामः कतिचिद्दिनानि।
ततः कदाचित्समयावबोधदृप्तेन विद्धो हृदि मन्मथेन॥
अंगुलीषु परिगृह्य राघवे वेधयत्युरसि रागिभिर्नखैः।
सस्मितं विवलितांगुलिर्बलादात्मनः करमुदास मामिनी॥
यत्नगम्यमथ मैथिलीमुखं सोनुभूय नहि तृप्तिमाययौ।
आननेन परिघव्य बोधितं राजहंस इव पद्मकुड्मलम्॥

राम के इस रूप में शिव के रूप की छाया अवश्य दिखाई दे जाती है। कुमारसम्भव की इन सूक्तियों को देखिये जिनमें कुमारदास की कवि कल्पना जागृत हुई है[2]—

पाणिपीडनविधेरनन्तरं शैलराजदुहितुर्हरं प्रति।
भावसाध्वसपरिग्रहादभूत् कामदोहदमनोहरं वपुः॥
व्याहता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः॥

कालिदास के कुमारसम्भव के अनुगमन के सम्बन्ध में कुमारदास ने स्वयं कहा है—

गौरीमिवाचारगुणेन गुर्वीं करे गृहीत्वा करभोपमोरुम्।
सतल्पभूभागमनल्पशोभं भवप्रभावो भवनं विवेश॥

यहां जैसे राम को 'भवप्रभाव' कहा गया है वैसे ही, हम कुमारदास को भी 'कालिदास प्रभाव' कह सकते हैं और इस कथन में न तो कालिदास की कोई क्षति होती है और न कुमारदास की। जैसे शिव और राम का व्यक्तित्व पृथक्-पृथक है वैसे ही कालिदास और कुमारदास का कवित्व भी पृथक्-पृथक् ही है।

---

१. जानकीहरण ७.६० तथा ८.४,१४। २. कुमारसम्भव ८.१-२।

जानकीहरण में कालिदास की छन्दोयोजना का अनुहरण

कालिदास की मौलिकता का एक रूप उनके काव्यों में उनकी छन्दोयोजना में भी प्रकाशित होता है। कुमारसम्भव के चतुर्थ सर्ग में तथा रघुवंश के अष्टम सर्ग में कालिदास ने 'वियोगिनी' छन्द की योजना की है। कुमारसम्भव के चतुर्थ सर्ग के 'रतिविलाप' तथा रघुवंश के अष्टम सर्ग के 'अजविलाप' के प्रसंगों में 'वियोगिनी' वृत्त की कल्पना बड़ी प्रभावोत्पादक दिखाई देती है! कुमारदास कालिदास की वियोगिनी वृत्त योजना से पूर्णतया प्रभावित हैं। इन्होंने अपने जानकीहरण में इस वृत्त की योजना भी की है। किन्तु इस वृत्त के द्वारा उन्होंने जिस विषय का उपन्यास किया है वह कालिदास के कुमारसम्भव तथा रघुवंश के विषयों से सर्वथा भिन्न है। कुमारसम्भव और रघुवंश में कालिदास ने, वियोगिनी वृत्त को 'शोकविलाप' के अभिव्यञ्जन के माध्यम रूप से प्रयुक्त किया है किन्तु जानकीहरण में वियोगिनी वृत्त का प्रयोग रामजन्मवर्णन के आनन्दमय प्रसंग में किया गया है। रामजन्मवर्णन के आनन्दमय प्रसंग में वियोगिनीवृत्त का बन्ध अनुचित न माना जाय इसलिए इस वृत्त में रचे पहले श्लोक में, कुमारदास ने दशरथ की शोकाकुल मनोदशा का ही वर्णन कर दिया है[१]—

अथ स प्रविजृम्भिते शुचौ विधुरश्चेतसि पुत्रकाम्यया।
सुबहुद्विजसात्कृताखिलद्रविणस्तोममयष्ट भूपतिः॥

कालिदास के 'वियोगिनीवृत बन्ध' का शोक-विलाप के क्षेत्र से भिन्न क्षेत्र में प्रयोग कुमारदास की मौलिकता को भी प्रमाणित करता है और उनकी अनुहरण कला को भी।

कालिदास के अनुहरण में भी कुमारदास की मौलिकता

कुमारदास के जानकीहरण में कालिदास के शब्द, श्लोक, चरण, वृत्त, वस्तुवर्णन और चरितचित्रण, एक शब्द में सभी काव्योपकरणों के अनुहरण के निदर्शन दिखाई देते हैं किन्तु तब भी कुमारदास की मौलिकता की कान्ति म्लान नहीं होती। कुमारदास को अपनी नयी नयी काव्य कल्पनाओं के लिए उतनी चिन्ता नहीं जितनी कि कालिदास की काव्यकल्पनाओं के अनुशीलन और अनुगमन की है। कालिदास की कविता की रसानुभूति में ही कुमारदास की प्रतिभा से नयी-नयी कलियां और नए-नए फूल निकलते हैं। उदाहरण के लिए जानकीहरण की निम्नलिखित सूक्तियां देखिये जिनमें विवाह के बाद जानकी मिथिला से विदा लेती हुई दिखाई देती हैं[२]—

१. जानकीहरण ४.१।   २. जानकीहरण ६ २०-२१।

रथध्वनिप्रापितसंमदं गवां कुलं समुत्पुच्छयमानमुन्मुखम् ।
उदग्रकर्णं परिधावदेकतो ददर्श सीताऽथ वनान्तवर्तिनी ॥
विनिद्रपद्मा मृदुभिः समीरणैर्विसारयन्त्यः कलहंसिकागिरः ।
स्वदेशसीमासरितो विलंबिताः शुचं वधूचेतसि साधु संदधुः ॥
विवृत्तदृष्टा विषयव्यतिक्रमाच्छनैर्निमज्जन्त इवावनीतले ।
स्वजन्मभूमौ गिरयो नृपात्मजाकपोलमातेनुरजस्रमश्रुभिः ॥

इन सूक्तियों की समानता संस्कृत काव्यसाहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं मिलती । कुमारदास की ये सूक्तियां मौलिक सूक्तियां हैं और उनकी प्रतिभा के 'सहज' रूप का प्रकाशन करने में सर्वथा समर्थ हैं । इन सूक्तियों के भाव-सर्वस्व का स्रोत कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल में कण्व के आश्रम से विदा लेती शकुन्तला के चित्रण में भी स्पष्टतया दिखाई देती है । किन्तु 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' के रस-भाव में डूबे बिना ऐसे मार्मिक प्रसंग की काव्य में अवतारणा कैसे हो सकती थी । 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की निम्नलिखित सूक्तियों के रसास्वाद में कुमारदास की भावयित्री प्रतिभा संतृप्त हुई होगी[1]—

उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः ।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ॥
शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से ! त्वया रचितपूर्वम् ।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः ॥

कालिदास की इन सूक्तियों में अकवि को भी कवि बना देने का सामर्थ्य है । कुमारदास तो स्वयं एक प्रतिभाशील कवि थे और साथ ही साथ कालिदास के काव्य के, समसामयिक सहृदय सामाजिकों में से, सर्वश्रेष्ठ सामाजिक भी थे । कुमारदास ने कालिदास के काव्य में अपनी भावयित्री प्रतिभा का व्यय किया और उसके बदले में उन्हें कारयित्री प्रतिभा मिली जिसका प्रबल प्रमाण जानकीहरण की रचना है, रघुवंश और जानकीहरण में वह सम्बन्ध नहीं जो कि किसी बिम्ब और उसके प्रतिबिम्ब में हो सकता है । 'जानकीहरण' में रघुवंश का प्रतिबिम्ब नहीं अपितु रघुवंश की सी प्राणशक्ति और आत्मसत्ता का स्फुरण दिखाई देता है जैसे कालिदास ने कुमारदास की काव्यप्रतिभा को प्रेरित किया था वैसे ही कुमारदास ने भी अपने बाद के कवियों की काव्यप्रतिभा को प्रेरणा दी है ।

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तल ४.१२ तथा २१ ।

वाल्मीकिरामायण और भट्टिरचित 'रावण वध'
मौलिकता—अनुहरण के सिद्धान्त के अनुसरण में

महाकवि भट्टि (७ वीं शताब्दी) का 'रावण वध' महाकाव्य, जिसने भारत के सुदूर उपनिवेशों में, संस्कृत काव्य और महाकाव्य की परम्परा का प्रसार किया, वाल्मीकि रामायण का ही एक विचित्र रूपान्तरण है। 'रावण वध' के रूप में आदि काव्य का यह रूपान्तरण इसलिए विचित्र है क्योंकि इसमें भट्टि ने रामायण के वृत्त और चरित का ही दुरूह अनुसरण नहीं किया है अपितु व्याकरण शास्त्र सम्मत, सभी प्रकार के प्रयोगों में अपनी सिद्धहस्तता का भी सफल प्रदर्शन कर दिखाया है। 'रावण वध' एक मौलिक कृति है क्योंकि इसकी रचना के पहले की कोई ऐसी कृति आज उपलब्ध नहीं जिसे इसका अनुकार्य माना जा सके। भट्टि का यह महाकाव्य संस्कृत के महाकाव्य पंचक में क्यों नहीं कोई स्थान पा सका, इसका कारण कुछ और है। भट्टि का 'रावण वध' शास्त्र काव्य है। संस्कृत में 'शास्त्र काव्य' का आरम्भ सम्भवतः भट्टि का ही कार्य है। काव्यरसिक लोग इस 'शास्त्र काव्य' में भले ही आनन्द न ले सकें, किन्तु संस्कृत साहित्य के इतिहास में इस शास्त्र काव्य का कम महत्व नहीं क्योंकि इस एक ही कृति ने काव्य के छन्द, अलंकार, गुण आदि आदि सभी विषयों से जावा और सुमात्रा के समसामयिक कवियों को परिचित कराया और उनकी भाषा में संस्कृत काव्यों की भांति काव्यरचना को प्रोत्साहित किया।

रावण वध की मौलिकता का स्वरूप

अस्तु, भट्टिकाव्य की 'मौलिकता' एक विचित्र मार्ग से चलती है। सामान्यतः कविजन 'सर्वप्रिय' होना चाहते हैं किन्तु 'रावण वध' के रचयिता 'विद्वत्प्रिय' होने में ही प्रसन्न हैं। भट्टिकाव्य का निम्न लिखित श्लोक देखिये[1]—

व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम्।
हता दुर्मेधसश्चाऽस्मिन् विद्वत्प्रियतया मया॥

इस श्लोक में भट्टि ने अपनी काव्य रचना का उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है। भट्टि ने स्पष्ट कह दिया है कि रावण वध को समझने के लिए व्याकरणशास्त्र

---

१. भट्टिकाव्य २२.३४।

का पूर्णज्ञान होना आवश्यक है क्योंकि व्याकरण शास्त्र ही 'रावण वध' की व्याख्या कर सकता है। व्याकरणशास्त्र से जो लोग पूर्णतया परिचित होंगे उनके लिए यह काव्य आनन्द का ही विषय होगा।

भट्टि की निम्नलिखित सूक्ति भी 'रावण वध' और 'पाणिनीय शब्दानुशासनशास्त्र' के पारस्परिक सम्बन्ध का ही प्रकाशन करती है[१]—

दीपतुल्यप्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते॥

अर्थात् व्याकरण शास्त्र में अभ्यस्त लोगों के लिए 'रावण वध' एक दीपक के समान सिद्ध होगा। जैसे दीपक के प्रकाश में पदार्थों का दर्शन सुगम हो जाता है वैसे ही रावणवध से इसके पाठकों को नए नए शब्दशास्त्र सम्मत प्रयोगों का दर्शन सुलभ हो जायेगा।

भट्टि की विद्वत्प्रियता में किसी अन्य संस्कृत कवि की 'विद्वत्प्रियता' का अनुसरण नहीं। वस्तुत: भट्टि की ही विद्वत्प्रियता का अनुकरण उनके बाद के कवियों में दिखलाई देता है। संस्कृत के पांच महाकाव्यों में स्थान पाने वाले 'नैषधीयचरित' के रचयिता श्रीहर्ष की 'विद्वत्प्रियता' में भट्टि की विद्वत्प्रियता की ही छाया झलकती है। श्रीहर्ष ने भी भट्टि के 'रावण वध' की व्याकरण विषयक 'ग्रन्थ ग्रन्थि' के अनुहरण में, अपने नैषधचरित को वेदान्तविषयक 'ग्रन्थग्रन्थि' से अलंकृत करके अपनी विचित्र मौलिकता का ही प्रदर्शन किया है। काव्य में शब्दब्रह्म और परब्रह्म के दर्शनों की गुत्थियां रखने में श्रीहर्ष को कम आनन्द नहीं मिला होगा। अपने इसी आनन्द के प्रकाशन में उनकी यह उक्ति है[२]—

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञंमन्यमना हठेन पठिती मास्मिन्खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः॥

भट्टि और श्रीहर्ष के कवित्व में आकाश पाताल का अन्तर है। भट्टि व्याकरणशास्त्र के पारंगत थे और श्रीहर्ष दर्शनादि शास्त्रों के पारंगत। श्रीहर्ष में कविप्रतिभा का दर्शन होता है और भट्टि में व्याकरण पाण्डित्य का। वैयाकरण से कविप्रतिभा रूठी रहती है ऐसी एक पुरानी परम्परा सी चली आ रही है। क्षेमेन्द्र की निम्नलिखित उक्ति से भी यही बात प्रमाणित होती है[३]—

---

१. वही २२.३५। २. नैषधीयचरित २२.१५२।
३. कविकण्ठाभरण १.१५।

कुर्वीत साहित्यविदः सकाशे
श्रुतार्जनं काव्यसमुद्भवाय ।
न तार्किकं केवलशाब्दिकं वा
कुर्याद् गुरुं सूक्तिविकासविघ्नम् ॥

अस्तु, केवल शाब्दिक होने पर भी भट्टि मे वह प्रतिभा अवश्य थी जिसे 'आहार्य' कहा जाता है अथवा जो काव्य साहित्य के अनुशीलन के द्वारा अर्जित की जा सकती है। भट्टि और श्रीहर्ष की कृतियों में काव्यत्व के मात्रा-वैषम्य का भी यही कारण है। भट्टि की अपनी मौलिकता में कोई सन्देह नहीं। यह बात और है कि भट्टि की 'मौलिकता' सर्वप्रिय न होकर 'विद्वत्प्रिय' ही।

रावण वध में वाल्मीकि रामायण के अनुहरण दृष्टान्त

वाल्मीकि रामायण के वस्तुवर्णन वृत्त निर्माण तथा चरितचित्रण के अनुहरण में, रावणवध के कवि का प्रयास वस्तुतः स्तुत्य है। भट्टि काव्य का आरम्भ श्लोक ही देख लीजिये—

अभून्नृपो विबुधसखः परंतपः
श्रुतान्वितो दशरथ इत्युदाहृतः ।
गुणैर्वरं भुवनहितच्छलेन यं
सनातनः पितरमुपागमत् स्वयम् ॥

इस श्लोक में वाल्मीकि रामायण के इन दो श्लोकों का अर्थानुहरण देखिये—

तां पुरीं स महातेजा राजा दशरथो महान् ।
शशास शमितामित्रो नक्षत्राणीव चन्द्रमाः ॥[1]

ततः पद्मपलाशाक्षः कृत्वाऽत्मानं चतुर्विधम् ।
पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम् ॥[2]

किन्तु कुछ ही आगे अयोध्यावर्णन में जो कि वाल्मीकि रामायण के अयोध्यावर्णन के ही आधार पर है, भट्टि कवि ने अपनी आहार्य प्रतिभा का भी प्रकाशन कर दिया है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित श्लोक देखिये[3]—

निर्माणदक्षस्य समीहितेषु सीमेव पद्मासनकौशलस्य ।
ऊर्ध्वस्फुरद्रत्नगभस्तिभिर्या स्थिताऽवहस्येव पुरं मघोनः ॥

---

१. वाल्मीकि रामायण ६.२८ ।

२. वही १५.३१ ।

३. भट्टिकाव्य १.६७ ।

सद्रत्नमुक्ताफलवज्रभाञ्जि विचित्रधातूनि सकाननानि।
स्त्रीभिर्युतान्यप्सरसामिवौघैर्मेरोः शिरांसीव गृहाणि यस्याम् ॥

इन श्लोकों में वाल्मीकि रामायण के अनुहरण के बदले महाकवि माघ के निम्नोद्धृत श्लोकों की छाया दिखाई देती है[1]—

त्वष्टुः सदाभ्यासगृहीतशिल्पविज्ञातसंपत्प्रसरस्य सीमा।
अदृश्यतादर्शतलामलेषु च्छायेव या स्वर्जलधेर्जलेषु ॥
निषेव्यमाणेव शिवैर्मरुद्भिरध्यास्यमाना हरिणा चिराय ।
उद्रश्मिरत्नांकुरधाम्नि सिन्धावाह्लास्त मेरावमरावतीं या ॥

भट्टि काव्य के ऊपर उद्धृत श्लोकों में व्याकरण के प्रयोगों का प्रदर्शन नहीं अपितु प्राचीन तथा समकालीन काव्य साहित्य के अध्ययन अनुशीलन से प्राप्त 'आहार्य' कवित्व का प्रदर्शन है।

भट्टिकवि के प्रकृतिवर्णन में रामायण के प्रकृतिवर्णन की छाया

भट्टि काव्य के द्वितीय सर्ग में जो कि व्याकरण की दृष्टि से 'प्रकीर्ण' काण्ड है और काव्य की दृष्टि से 'सीता परिणय' का प्रकरण है, शरद् ऋतु का वर्णन किया गया है। इस शरद्वर्णन का पहला ही श्लोक देखिये[2]—

वनस्पतीनां सरसां नदीनां तेजस्विनां कान्तिभृतां दिशां च।
निर्याय तस्याः स पुरः समन्तात् श्रियं दधानां शरदं ददर्श ॥

इस श्लोक मे वाल्मीकि रामायण के शरद् वर्णन के निम्नलिखित श्लोक के अभिप्राय का रूपान्तर प्रतीत होता है[3]—

शाखासु सप्तच्छदपादपानां प्रभासु तारार्कनिशाकराणाम्।
लीलासु चैवोत्तमवारणानां श्रियं विभज्याद्य शरत् प्रवृत्ता ॥

किन्तु निम्नलिखित श्लोक भट्टिकवि ने महाकवि भारवि के शरद् वर्णन की स्मृति में रचा है जिसमें उनका काव्य प्रेम स्पष्ट प्रतीत हो जाता है[4]—

विवृत्तपार्श्वं रुचिरांगहारं समुद्वहच्चारुनितम्बरम्यम् ।
आमन्द्रमन्थध्वनिदत्ततालं गोपांगनानृत्यमनन्दयत्तम् ॥

भारवि के शरद् वर्णन के श्लोक ये हैं जिनका अनुहरण भट्टिकवि के ऊपर उद्धृत श्लोक में दृष्टिगोचर होता है[5]—

---

१. शिशुपालवध ३.३५ तथा ६२। २. भट्टिकाव्य २.१।
३. वाल्मीकि रामायण : किष्किन्धाकाण्ड ३०.२८।
४. भट्टिकाव्य २.१६। ५. किरातार्जुनीय ४.१६,१७।

निबद्धनिःश्वासविकम्पिताधरा लता इव प्रस्फुरितैकपल्लवाः।
व्यपोढपार्श्वैरपवर्तितत्रिका विकर्षणैः पाणिविहारहारिभिः॥
व्रजाजिरेष्वम्बुदनादशङ्किनीः शिखण्डिनामुन्मदयत्सु योषितः।
मुहुः प्रणुन्नेषु मथां विवर्तनैर्नदत्सु कुम्भेषु मृदंगमन्थरम्॥
स मन्थरावल्गितपीवरस्तनीः परिश्रमक्लान्तविलोचनोत्पलाः।
निरीक्षितुं नोपरराम वल्लवीरभिप्रनृत्ता इव बालयोषितः॥

भट्टि के अनुहरण में भारवि के तीनों श्लोकों की छाया सिमट कर छोटी हो गई है किन्तु झलकती अवश्य है। भारवि ने भी वाल्मीकि रामायण के शरद् वर्णन का आनन्द लिया था और अपनी प्रतिभा से, उस आनन्द को, अपने शरद् वर्णन में अभिव्यक्त किया था। किन्तु भट्टि ने रामायण के शरद् वर्णन का संक्षिप्त श्लोकानुवाद किया और साथ ही साथ समसामयिक काव्य साहित्य के शरद् वर्णनों की परम्परा का भी अनुसरण किया जिसमें भारवि की परम्परा के अनुसरण की मात्रा अधिक दिखाई देती है।

भट्टि के वृत्तवर्णन में रामायण का अनुहरण

रावणवध की वृत्त योजना में वाल्मीकि रामायण के विस्तीर्ण तथा विकीर्ण वृत्तों की व्यवस्थित शृंखला दिखाई देती है। वाल्मीकि ने भी रावण-वध का वर्णन किया है किन्तु उन्होंने अपने आदि काव्य का निर्वाह 'रामायण' के रूप में ही किया है क्योंकि वाल्मीकि का लक्ष्य 'करुण रस' की अनुपम सृष्टि था। भट्टि ने राम के चरित में वीर रस के भावों के प्रकाशन के लिए 'रामायण' से 'रावण वध' की सृष्टि की है। भट्टि की व्याकरण वीरता के प्रकाशन के लिए 'रावण वध' का निर्माण कहीं अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। रामायण से 'रावण वध' की निष्पत्ति में भट्टि कवि की मौलिकता अवश्य दिखलाई देती है। किन्तु इस मौलिकता को 'सहजा' नहीं अपितु 'आहार्य' मानना ही उचित होगा क्योंकि भट्टि के मार्ग दर्शक उनसे प्राचीन भारवि, माघ आदि कवि हो चुके हैं जिन्होंने महाभारत से 'किरातार्जुनीय' और 'शिशु-पालवध' की नयी वृत्त कल्पना और नयी वृत्त योजना में अपनी कवि प्रतिभा का प्रकाशन पहले ही कर दिया था।

'भट्टि काव्य' के सीता परिणय का प्रसंग देखिये जिसमें 'शूर्पणखा' के वृत्त की योजना निम्नलिखित श्लोक में की गई है[1]—

अक्षीकोऽस्वावहं क्षीमान् स पुष्यतितरां तव।
पतिरित्यब्रवीद् रामस्तमेव व्रज मा शुचः॥

---

१. भट्टिकाव्य ४.२९-३१।

लक्ष्मणं सा वृषस्यन्ती महोक्षं गौरिवागमत् ।
मन्मथायुधसम्पातव्यथ्यमानमतिः पुनः ॥
तस्याः सासह्यमानाया लौल्यावान् रघूत्तमः ।
असिं कौक्षेयमुद्यम्य चकाराऽपनसं मुखम् ॥

शूर्पणखा का यह वृत्त वाल्मीकि रामायण के निम्नलिखित श्लोकों के ही अनुसरण पर रचित है[१]—

कृतदारोऽस्मि भवति ! भार्येयं दयिता मम ।
त्वद्विधानां तु नारीणां सुदुःखा ससपत्नता ॥
अनुजस्त्वेष मे भ्राता शीलवान् प्रियदर्शनः ।
श्रीमानकृतदारश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥
अपूर्वी भार्यया चार्थी तरुणः प्रियदर्शनः ।
अनुरूपश्च ते भर्ता रूपस्यास्य भविष्यति ॥
इति रामेण सा प्रोक्ता राक्षसी काममोहिता ।
विसृज्य रामं सहसा ततो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥
अस्य रूपस्य ते युक्ता भार्याऽहं वरवर्णिनी ।
मया सह सुखं सर्वान् दण्डकान् विचरिष्यसि ॥
इत्युक्तो लक्ष्मणस्तस्याः क्रुद्धो रामस्य पश्यतः ।
उद्धृत्य खड्गं चिच्छेद कर्णनासे महाबलः ॥

किन्तु भट्टि कवि ने शूर्पणखावृत्त की योजना में अपनी कल्पना का भी मिश्रण किया है और महाकवि कालिदास के रघुवंश के निम्नलिखित श्लोक की छाया का भी अनुहरण किया है[२]—

राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥

भट्टि के शूर्पणखा वृत्त वर्णन के श्लोकों में 'लक्ष्मणं सा वृषस्यन्ती महोक्षं गौरिवागमत्' में जो कल्पना है वह न तो वाल्मीकि रामायण के श्लोकों में है और न रघुवंश के श्लोकों में । यह कल्पना भट्टि की अपनी कल्पना है जो कि रामायण और रघुवंश के श्लोकों की प्रेरणा से ही निकली है, किन्तु एक नवीनता लिए हुए है ।

---

१. वाल्मीकि रामायण : अरण्यकाण्ड १८. २-४ तथा ६,७,२१ ।
२. रघुवंश ११.२० ।

भट्टिकाव्य में व्याकरण की दृष्टि से प्रसन्न काण्ड और काव्य की दृष्टि से 'प्रभात वर्णन' का यह प्रसंग देखिये[१]—

तमः प्रसुप्तं, मरणं सुखं नु
मूर्च्छा नु माया नु मनोभवस्य।
किं तत् कथं वेत्युपलब्धसंज्ञा
विकल्पयन्तोऽपि न संप्रतीयुः ॥

यह श्लोक महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल के निम्नोद्धृत श्लोक का 'सकलानुहरण' सा ही प्रतीत होता है[२]—

स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु
क्लिष्टं नु तावत् फलमेव पुण्यम्।
असंनिवृत्त्यै तदतीतमेते
मनोरथा नाम तटप्रपाताः ॥

महाकवि कालिदास ने विरही दुष्यन्त की मन:स्थिति का वर्णन किया है जिसमें शकुन्तला का मिलन स्वप्न, माया, मतिभ्रम और अचिरस्थायी पुष्पफल के रूप में प्रतिपादित है किन्तु भट्टि ने प्रभात काल के वर्णन में प्रेमी प्रेमिकाओं की मनोदशा में मूर्च्छा, माया, स्वप्न आदि आदि की कल्पना की है। इस प्रकार के अनुहरण को, कविराज राजशेखर के अनुसार 'संघातक' कहा जा सकता है जिसमें अन्य कवि निबद्ध पदार्थों का विषयान्तर में संक्रमण दिखाई देता है।

रामायण के रूपान्तरण में भट्टि कवि द्वारा भारवि का अनुहरण

भट्टि काव्य में जहां तहां महाकवि भारवि के किरातार्जुनीय की सूक्तियों का पदानुहरण स्पष्ट दिखाई देता है। उदाहरण के लिए भट्टिकाव्य का निम्नलिखित श्लोक देखिये[3]—

युद्धाय राज्ञा सुभृतैर्भवद्भिः
सम्भावनायाः सदृशं यदुक्तम्।
तत् प्राणपण्यैर्वचनीयमेव
प्रज्ञा तु मन्त्रेऽधिकृता न शौर्यम् ॥

इस श्लोक में, महाकवि भारवि के किरातार्जुनीय के निम्नोद्धृत श्लोक का, नए अर्थ की योजना के साथ पदानुहरण स्पष्ट दिखाई पड़ता है[४]—

---

१. भट्टिकाव्य ११.१०।
२. अभिज्ञानशाकुन्तल ६.१०।
३. भट्टिकाव्य १२.२२।
४. किरातार्जुनीय ४.२५।

विहाय वाञ्छामुदिते मदात्यया-
दरक्तकण्ठस्थरुते शिखण्डिनः ।
श्रुतिः श्रयत्युन्मदहंसनिःस्वनं
गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः ॥

इसी भांति भट्टिकाव्य का यह श्लोक देखिये[१]—

उपेक्षणीयैव परस्य वृद्धिः प्रनष्टनीतेरजितेन्द्रियस्य ।
मदादियुक्तस्य विरागहेतुः समूलघातं विनिहन्ति याऽन्ते ॥

इस श्लोक में महाकवि भारवि के किरात काव्य की निम्नलिखित सूक्तियों की झाँकी स्पष्ट दिखाई दे जाती है[२]—

द्विषतामुदयः सुमेधसा गुरुरस्वन्ततरः सुमर्षणः ।
न महानपि भूतिमिच्छता फलसम्पत्प्रवणः परिक्षयः ॥
अचिरेण परस्य भूयसीं विपरीतां विगणय्य चात्मनः ।
क्षययुक्तिमुपेक्षते कृती कुरुते तत्प्रतिकारमन्यथा ॥

भट्टिकाव्य के चरित वर्णन में रामायण का अनुहरण

आरम्भ से अन्त तक भट्टिकाव्य का चरित वर्णन वाल्मीकि रामायण के चरित वर्णन का ही अनुगमन करता है । दशरथ, राम, सीता, लक्ष्मण, भरत, विभीषण, रावण आदि आदि चरितों के वर्णन में भट्टि ने वाल्मीकि रामायण का ही ध्यान रक्खा है, किन्तु व्याकरण द्वारा अनुशिष्ट प्रयोगों के प्रदर्शन में, अपने नए शास्त्रकाव्य के मार्ग का भी प्रकाशन कर दिखाया है। जैसे कि भट्टिकाव्य के रावण-कुम्भकर्ण के परस्पर वार्तालाप में कुम्भकर्ण की उक्तियां देखिये[3]—

अवोचत्कुम्भकर्णस्तं वयं मन्त्रेऽभ्यधाम यत् ।
न त्वं सर्वं तदश्रौषीः फलं तस्येदमागमत् ॥
प्राज्ञवाक्यान्यवामंस्था मूर्खवाक्येष्ववास्थिताः ।
अध्यगीष्ठाश्च शास्त्राणि प्रत्यपत्था हितं न च ॥
मूर्खास्त्वामववञ्चन्त ये विग्रहमचीकरन् ।
अभाणीन्माल्यवान् युक्तमवंस्थास्त्वं न तन् मदात् ॥

---

१. भट्टिकाव्य १२.२७ । २. किरातार्जुनीय २८,९ ।

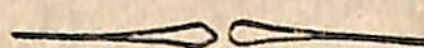
३. भट्टिकाव्य १५.१३-१५,१७ ।

तस्याऽप्यत्यक्रमीत्कालो यत्तदाहमवादिषम् ।
अघानिषत रक्षांसि परैः कोशांस्त्वमव्ययीः ॥

इन उक्तियों में धातु रूपों के प्रयोग में भट्टिकवि का उद्देश्य तिङन्तकाण्ड के अपने प्रौढ़ पाण्डित्य का प्रदर्शन है और साथ ही साथ वाल्मीकि रामायण के इसी प्रसंग के निम्नोद्धृत श्लोकों का अनुहरण भी है[1]—

दृष्टो दोषो हि योऽस्माभिः पुरा मन्त्रविनिर्णये ।
हितेष्वनभियुक्तेन सोऽयमासादितस्त्वया ॥
शीघ्रं खल्वभ्युपेतं त्वां फलं पापस्य कर्मणः ।
निरयेष्वेव पतनं यथा दुष्कृतकर्मणः ॥
प्रथमं वै महाराज कृत्यमेतदचिन्तितम् ।
केवलं वीर्यदर्पेण नानुबन्धो विचारितः ॥
यदुक्तमिह ते पूर्वं प्रियया मेऽनुजेन च ।
तदेव नो हितं वाक्यं यथेच्छसि तथा कुरु ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के रूपान्तरण में भट्टि ने पाणिनीय शब्दानुशासन का भी श्लोकबद्ध रूपान्तरण कर दिखाया है जिसमें उनकी अनुहरण कला स्पष्ट प्रतीत होती है ।



१. वाल्मीकि रामायण युद्धकाण्ड ६३.२-४ तथा ३१ ।

वाल्मीकि रामायण और चम्पू शैली में रामकाव्य

वाल्मीकि रामायण के वृत्त, चरित, रस भाव किंवा अन्य काव्यात्मक वैचित्र्य के प्रभाव में चम्पू शैली में भी राम काव्य की रचना हुई। चम्पू शैली में राम काव्य की रचना के पीछे 'नवीनता' की ही भावना छिपी है। रामायण पर आश्रित पद्यबन्ध का भण्डार भरा हुआ था और गद्यबन्ध में 'रामायण' के अनुहरण में संभवतः कोई विशेष चमत्कार न दिखाई दिया होगा। किन्तु गद्य और पद्य की सम्मिश्र शोभा से युक्त 'चम्पू' में चमत्कार विशेष की संभावना थी। 'चम्पू' न तो पद्यमय रचना है और न गद्यमय रचना, अपितु पद्य और गद्य की विशेषताओं का 'मणिप्रवाल संयोग' है। 'चम्पू' रचना का भी एक पुराना इतिहास है जिसका अनुमान काव्याचार्य दण्डी (६ ठी ७ वीं शताब्दी) की इस उक्ति परम्परा में स्पष्ट है[१]—

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली॥

'काव्य का शरीर वह पद सन्दर्भ है जिसे कविजन अपने अभीष्ट अर्थों से सुन्दर बना देते हैं।'

पद्यं गद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्॥[२]

अर्थात् केवल पद्यात्मक, केवल गद्यात्मक तथा गद्यपद्योभयात्मक भेद से इस काव्यशरीर के तीन भेद हैं।

मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तरः।[3]
गद्यपद्यमयी कापि चम्पूरित्यभिधीयते॥

अर्थात् गद्यपद्यात्मक अथवा सम्मिश्ररूप के दृष्टान्त नाटक आदि हैं और 'चम्पू' भी है जिसका प्रचार विरल है किन्तु जिसमें एक अपना ही चमत्कार है।

चम्पू शैली में रामकाव्य—चम्पूरामायण की मौलिकता

रामायण के आदर्श पर लिखे गए चम्पू काव्यों में सर्वप्रथम और सर्वोत्तम चम्पूकाव्य जो आज उपलब्ध है भोजरचित रामायणचम्पू अथवा चम्पूरामायण है। चम्पू रामायण के रचयिता १० वीं शताब्दी के धाराधिराज भोज हैं अथवा विदर्भ के महाराज भोज, इसका निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वाल्मीकि रामायण को चम्पूशैली में प्रस्तुत

---

१. काव्यादर्श १.१०। २. वही १.११। ३. वही १.३१।

करने वाली यह कृति कुछ अपनी भी मौलिकता रखती है। इस मौलिकता का अभिप्राय इसमें किसी विचित्र अथवा नवीन विषय की उद्भावना नहीं क्योंकि जिस किसी विषय को रामायणचम्पू के रचयिता ने अपनाया है वह सब वाल्मीकि की कविता का ही विषय रह चुका है। यह मौलिकता कवि की कारयित्री प्रतिभा से सम्बन्ध रखती है। वाल्मीकि ने अपने युग के महा-पुरुष सीतापति राम पर काव्य-रचना की। वाल्मीकि के आदिकाव्य का संक्षेप करते हुए भी रामायण चम्पू का रचयिता अपने युग के राम और सीता को नहीं भूलता। देश, काल और वस्तु स्वभाव के परिवर्तन से कवि प्रभावित है। पूर्ववर्ती महाकवियों की रामविषयक कृतियां कवि के स्मृति कोष में सुरक्षित हैं। इन दोनों प्रकारों से प्रभावित कवि की रचना में कुछ विशेषतायें हैं जिनमें कवि की मौलिकता का आभास मिल जाता है। इस प्रसंग में ध्वनिकार आनन्दवर्धन की निम्नांकित सूक्ति ध्यान देने योग्य है[1]—

रसभावादिसम्बद्धा यथौचित्यानुसारिणी।
अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादिभेदिनी॥
वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः।
निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव॥

इसका तात्पर्य यह है कि परिस्थितियों के परिवर्तन को ध्यान में रखकर जो भी कवि जिस विषय पर भी लिखता है और रसभावादि के औचित्य का अनुसरण करते हुए काव्य रचता है वह अपनी कृति में कुछ न कुछ नवीनता अथवा मौलिकता अवश्य छोड़ देता है। जैसे कल्प-कल्पान्तरों से विश्व के विविध विचित्र पदार्थों की रचना करने पर भी जगत् की प्रकृति में कोई परिक्षय अथवा ह्रास नहीं होता है वैसे ही सहस्रों कवियों और रचनाओं से परिभुक्त होने पर भी काव्य की स्थिति में कोई परिक्षय अथवा ह्रास नहीं हुआ करता।

रामायण चम्पू का कवि यह स्पष्ट कर देता है कि वह आदि कवि वाल्मीकि का उसी प्रकार ऋणी है जिस प्रकार संस्कृत के अन्य कवि[2]—

वाल्मीकिगीतरघुपुंगवकीर्तिलेशै-
स्तृप्तिं करोमि कथमप्यधुना बुधानाम्।
गंगाजलैर्भुवि भगीरथयत्नलब्धैः
किं तर्पणं न विदधाति नरः पितॄणाम्॥

१. ध्वन्यालोक ४. ९-१०। २. रामायणचम्पू बालकाण्ड ४।

अर्थात् जैसे सबसे पहले हिमालय की गंगा भगीरथ के प्रयत्न से ही भारत की भूमि पर आयी किन्तु बाद में सभी लोग उसी के जल के उपयोग में अपने आपको कृतार्थ मानते हैं वैसे ही सर्वप्रथम राम की गौरवगाथा वाल्मीकि ने ही गायी किन्तु बाद में जिस कवि ने भी उसके रस में लीन होकर राम पर रचना की वह भी कृतार्थ ही माना जाता है ।

चम्पूरामायण वाल्मीकि रामायण का अनुवाद नहीं

यदि हम रामायण चम्पू की कतिपय पद्य अथवा गद्य सूक्तियों को देखें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि भोजराज ने वाल्मीकि का चम्पू 'अनुवाद' नहीं किया अपितु उनसे मिले काव्य-ऋण को अपनी औचित्यपूर्ण उद्भावनाओं के रूप में यथाशक्ति चुकाने का भी प्रयत्न किया । जैसे कि प्रथम उदाहरण—

वाल्मीकि रामायण के अरण्यकांड के आरम्भ का यह श्लोक देखिये—

> प्रविश्य तु महारण्यं दण्डकारण्यमात्मवान् ।
>
> रामो ददर्श दुर्धर्षस्तापसाश्रममण्डलम् ॥

भोज को इस श्लोक की काव्यात्मक विशेषताओं का ध्यान है। यहां 'महारण्यं दण्डकारण्यम्' की वर्णविचित्रता दर्शनीय है। क्योंकि ये वर्ण ही दण्डकारण्य की (उसी दण्डकारण्य की जहां आज भारत सरकार की पुनर्वास योजना बड़े जोर पर चालू है) भयंकरता का आभास दे जाते हैं किन्तु वाल्मीकि के राम 'आत्मवान्' हैं और इसीलिए इस महारण्य दण्डकारण्य में भी 'दुर्धर्ष' हैं इस बात की पुष्टि 'रामो ददर्श दुर्धर्षः' की क्रमशः कर्कश होती किन्तु भावपूर्ण ध्वनियां कर देती हैं । वाल्मीकि के काव्य की इन विचित्रताओं का अनुकरण हास्यास्पद होता । रामायण चम्पू के कवि ने इसीलिए अपनी भावना के राम का निरूपण किया है[१]—

> प्रविश्य विपिनं महत्तदनु मैथिलीवल्लभो
>
> महाबलसमन्वितश्चलितनीलशैलच्छविः ।
>
> निशाचरदवानलप्रशमनं विधातुं शरै-
>
> श्चचार सशरासनः सुरपथे तडित्वानिव ॥

यहां पहला पद 'प्रविश्य' है और यह पद वाल्मीकि का ही पद है। किन्तु यहां दण्डकारण्य में प्रवेश के लिए प्रस्तुत राम का रूप कुछ विशेष प्रकार का ही है। यहां कवि सीता के विरह में व्यथित 'नीलाम्बुजश्यामलकोमलांगं' (चलितनीलशैलच्छविः) पुरुषोत्तम राम का वर्णन कर रहा है और राम के

१. चम्पूरामायण आरण्यकाण्ड १ श्लोक ।

दुःख में दुखित सा प्रतीत हो रहा है। सीता से वियुक्त राम में लीन कवि का करुणार्द्र हृदय पृथिवीवृत्त में भी करुणध्वनि का संचार कर रहा है। कवि रसाविष्ट है और इसीलिए वह आगे के गद्य में वाल्मीकि रामायण के अनेकों श्लोकों का निचोड़ अपने ही ढंग से भर देने में समर्थ हो गया है[१]––

तदनु कण्डूलवरशुण्डालकपोलकषणविषमितामितविटपसालषण्डनिर्यातनिर्यासगन्धानव्यात्तगन्धान्विदधानैराहुतिगन्धैरनुमीयमानानविनाभूतजलाशयानाश्रमभागानभितश्चरतोरातिथ्यशमितमार्गश्रमयो रामलक्ष्मणयोरध्वानं रुरोध विराधाभिधानो यातुधानः।

वाल्मीकि के लिए 'तापसाश्रममण्डल' की एक वास्तविकता है––

कुशचीरपरिक्षिप्तं ब्राह्मया लक्ष्म्या समावृतम्।
यथा प्रदीप्तं दुर्दर्शं गगने सूर्यमण्डलम्॥
शरण्यं सर्वभूतानां सुसम्मृष्टाजिरं सदा।
मृगैर्बहुभिराकीर्णं पक्षिसंघैः समावृतम्॥
पूजितं चोपनृत्तं च नित्यमप्सरसां गणैः।
विशालैरग्निशरणैः स्रुग्भाण्डैरजिनैः कुशैः॥
समिद्भिस्तोयकलशैः फलमूलैश्च शोभितम्।
अरण्यैश्च महावृक्षैः पुण्यैः स्वादुफलैर्वृतम्॥
बलिहोमार्चितं पुण्यं ब्रह्मघोषनिनादितम्।
पुष्पैश्चान्यैः परिक्षिप्तं पद्मिन्या च सपद्मया॥
फलमूलाशनैर्दान्तैश्चीरकृष्णाजिनाम्बरैः।
सूर्यवैश्वानराभैश्च पुराणैर्मुनिभिर्युतम्॥
पुण्यैश्च नियताहारैः शोभितं परमर्षिभिः।
तद् ब्रह्मभवनप्रख्यं ब्रह्मघोषनिनादितम्॥
ब्रह्मविद्भिर्महाभागैर्ब्राह्मणैरुपशोभितम्।
तद् दृष्ट्वा राघवः श्रीमांस्तापसाश्रममण्डलम्॥

भोज का युग नगरों की सभ्यता का युग है इसलिये भोज ने वाल्मीकि के 'तापसाश्रममण्डल' की कल्पना की है और एक उक्तिवैचित्र्य में इसे रूप रंग दिया है। यहां कोई अनुकरण नहीं जो नकल कहा जाता है। यहां वाल्मीकि के 'अनुहरण' में भोज की कुछ मौलिकता भी झलकती है। कवि अपने अनुभव की बात कह रहा है न कि वाल्मीकि के अनुभव की बात। कवि ने वाल्मीकि

---

२. चम्पूरामायण अरण्यकाण्ड, प्रथम श्लोक के बाद।

रामायण के 'ब्रह्मघोष निनादित' किंवा 'ब्राह्मी लक्ष्मी से समावृत' तापसाश्रम मण्डल को 'आहुति के सौरभ से अनुमित' तथा 'जलाशयों से अविनाभूत' वर्णित किया है। वाल्मीकि के वर्णन में स्वभावोक्ति की शोभा है और रामायण चम्पू का वर्णन 'काव्यलिंग' अलंकार से सुशोभित है। यहां यदि कवि ने रामायण के वर्णन॰ का केवल चम्पू रूपान्तरण किया होता तो 'ऐतिह्यव्यत्यास' (Historical anachronism) का दोष अवश्य लग जाता किन्तु ऐसा नहीं हो पाया है क्योंकि रामायण चम्पू के रचयिता में कविप्रतिभा की कुछ ज्योति है।

वाल्मीकि रामायण के अनुहरण में चम्पू रामायण की नवीन उद्भावना

इसी अरण्यकाण्ड में वाल्मीकि के हेमन्तकाव्य की सूक्तियां देखिए[1]—

अयं स कालः सम्प्राप्तः प्रियो यस्ते प्रियंवद।
अलंकृत इवाभाति येन संवत्सरः शुभः॥
नीहारपरुषो लोकः पृथिवी सस्यमालिनी।
जलान्यनुपभोग्यानि सुभगो हव्यवाहनः॥
नवाग्रयणपूजाभिरभ्यर्च्य पितृदेवताः।
कृताग्रयणकाः काले सन्तो विगतकल्मषाः॥
प्राज्यकामा जनपदः सम्पन्नतरगोरसाः।
विचरन्ति महीपाला यात्रार्थं विजिगीषवः॥
सेवमाने दृढं सूर्ये दिशमन्तकसेविताम्।
विहीनतिलकेव स्त्री नोत्तरा दिक् प्रकाशते॥
प्रकृत्या हिमकोशाढ्यो दूरसूर्यश्च साम्प्रतम्।
यथार्थनामा सुव्यक्तं हिमवान् हिमवान् गिरिः॥
अत्यन्तसुखसंचारा मध्याह्ने स्पर्शतः सुखाः।
दिवसाः सुभगादित्याश्छायासलिलदुर्भगाः॥
मृदुसूर्याः सुनीहाराः पटुशीताः समारुताः।
शून्यारण्य हिमध्वस्ता दिवसा भान्ति साम्प्रतम्॥
निवृत्ताकाशशयनाः पुष्यनीता हिमारुणाः।
शीतवृद्धतरायामास्त्रियामा यान्ति साम्प्रतम्॥

---

१. वाल्मीकिरामायण आरण्यकांड १६ ४-२७ श्लोक।

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारारुणमण्डलः ।
निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥
ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते ।
सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न च शोभते ॥
प्रकृत्या शीतलस्पर्शो हिमविद्धश्च साम्प्रतम् ।
प्रवाति पश्चिमो वायुः काले द्विगुणशीतलः ॥
वाष्पच्छन्नान्यरण्यानि यवगोधूमवन्ति च ।
शोभन्तेऽभ्युदिते सूर्ये नदद्भिः क्रौञ्चसारसैः ॥
खर्जूरपुष्पाकृतिभिः शिरोभिः पूर्णतण्डुलैः ।
शोभन्ते किंचिदालम्बाः शालयः कनकप्रभाः ॥
मयूखैरुपसर्पद्भिर्हिमनीहारसंवृतैः ।
दूरमभ्युदितः सूर्यः शशांक इव लक्ष्यते ॥
अग्राह्यवीर्यः पूर्वाह्णे मध्याह्ने स्पर्शतः सुखः ।
सरक्तः किंचिदापांडुरातपः शोभते क्षितौ ॥
अवश्यायनिपातेन किंचित्प्रक्लिन्नशाद्वला ।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा ॥
स्पृशन् सुविपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम् ।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम् ॥
एते हि समुपासीना विहगा जलचारिणः ।
नावगाहन्ति सलिलमप्रगल्भा इवाहवम् ॥
अवश्यायतमोनद्धा नीहारतमसावृताः ।
प्रसुप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः ॥
वाष्पसंछन्नसलिला रुतविज्ञेयसारसाः ।
हिमार्द्रवालुकैस्तीरैः सरितो भान्ति साम्प्रतम् ॥
तुषारपतनाच्चैव मृदुत्वाद् भास्करस्य च ।
शैत्यादगाग्रस्थमपि प्रायेण रसवज्जलम् ॥
जराजर्जरितैः पत्रैः शीर्णकेसरकर्णिकाः ।
नालशेषा हिमध्वस्ता न भान्ति कमलाकराः ॥
अस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्र काले दुःखसमन्वितः ।
तपश्चरति धर्मात्मा त्वद्भक्त्या भरतः पुरे ॥

वाल्मीकि की ये सूक्तियां भोजराज के चम्पूरामायण में इस प्रकार रूपान्तरित हुई हैं।

अथ कदाचिदुपचीयमानमनोभववैभवः पाककपिशकलममञ्जरीभूतकेदारप्रपञ्चः पञ्चबाणरणप्रयाणोचितवीरपाणवत्पत्रपुटपातदृश्यावश्यायबिन्दुसंदोहश्चन्द्रातपे निरानन्दतां चन्दनानुलेपने निर्लोलुपतां चन्द्रशालायां निराशतां चन्द्रोपलस्थले निरास्थतां वातायनसेवने निरुत्सुकतां वापीकूपोपकंठे निरुत्कंठतां वासरावसानेऽनादरतां वारिविहारे निराकांक्षतामुत्पलमालायामुपेक्ष्यतामुपवनभजनेऽप्युद्विग्नतां च जनानां जनयन्गम्भीराभोगगर्भगृहस्य च घनेष्टकारचितभित्तेरश्लक्षणतिरस्करिणीपटलस्य च शशोदररोममृदुकम्बलस्य च कालागरुधूमस्य च काश्मीरांगरागस्य च निर्धूमांगारभरितहसन्तिकायन्त्रस्य च सुभगंकरः रेणुकणायमानतुषारधूलिधूसरवासरः सरसीरुहदावपावकस्तुहिनव्रणितलासिकाधरदलदूरीकृतदंशकृत्यः प्रक्षीणतारुण्यपण्यांगनांगवत्प्रयातसौभाग्यप्रपासन्निवेशस्तालवृन्तविश्रान्तिकालः कामिनीस्तनभरगिरिदुर्गसीम्नि निर्भयनिलीननिदाघभावो दिवाभीतव्रातस्याप्यनतिभयङ्करदिवाकरश्चकोरनिकरस्याप्यनतिक्षेमंकरसुधाकरः कादम्बकदम्बस्याप्यनतिप्रियंकरकमलाकरः कृतकरयुगलस्वस्तिकाबन्धनतया नीहारातंकशंकया हृदयकमलमिव गोपायन्तमश्रान्तदन्तवीणाव्यापारवेपमानाधरपुटतया शीतिकापिशाचिकानिर्हरणाय निपुणं मन्त्रजपमिव कुर्वन्तमविरलपुलकपालीककम्बलितकलेवरतया सकरुणा विधिवितीर्णरोमकम्बलकृतांगरक्षमिव भिक्षामटन्तं दुर्गतवर्गनिर्घृणा कदाचिदपि कमला नालोकितवतीति तस्यै सासूय इव तदीयावासतामरसंसपत्नकोशं विनाशयन्गगनमतंगजकरपुष्करोत्थितशीकरनिकराकारैरतिपरुषस्मरशरतापप्रतप्तगगनांगनांगस्रवत्स्वेदद्रसैरक्षीणहिमप्रकरैरध्वगान्तःकरणानि सीमन्तयन्हेमन्तसमयः समुदजृम्भत ॥

यत्र कान्ता न पश्यन्ति क्लान्ता विरहवह्निना।
निशावसानवेलां च वेलां च व्यसनाम्बुधेः ॥[1]

किन्तु इस चम्पू रूपान्तरण में वाल्मीकि के वर्णन का अनुहरण भी है और साथ ही साथ चम्पूकार की अपनी व्युत्पत्ति और अपनी कविप्रतिभा की अभिव्यक्ति भी। 'हेमन्तऋतु' पर वाल्मीकि की काव्यरचना कुछ ऐसी है जिसकी सुन्दरता से संस्कृत के कवि और काव्यालोचक सदा प्रभावित होते रहे हैं। पर वाल्मीकि के 'हेमन्त' का चित्र कुछ ऐसा मौलिक है कि संस्कृत का कोई भी कवि कालिदास के समय से आज तक इसकी नकल नहीं उतार

---

१. चम्पूरामायण आरण्यकाण्ड चौदहवें श्लोक के पूर्व का गद्यभाग और चौदहवां श्लोक।

सका । 'अयं स कालः संप्राप्तः प्रिय……। अलंकृत इवाभाति येन संवत्सरः शुभः ।।' हेमन्त ऋतु का समय वह समय है जो वर्ष का अलंकार होता है। इस सूक्ति का अनुकरण नहीं हो सकता। इसमें वाल्मीकि की दिव्य प्रतिभा छिपी है। 'हेमन्त' कही जाने वाली वस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य को आदिकवि ने ऐसे शब्दों में अभिव्यक्त किया है जिनकी सरलता और सहज सुकुमारता अद्वितीय है। महाकवि कालिदास के हेमन्त ऋतु काव्य के इन पदों अर्थात्[1]—

नवप्रवालोद्गमसस्यरम्यः प्रफुल्ललोध्रः परिपक्वशालिः ।
विलीनपद्मः प्रपतत्तुषारो हेमन्तकालः समुपागतोऽयम् ॥

आदि में भी वह बात नहीं जो आदिकवि की एक पंक्ति (अर्थात् 'अलंकृत इवाभाति येन संवत्सरः शुभः') में है। रामायणचम्पू के रचयिता ने आदि कवि की इस सहजसूक्ति की महिमा के वशीभूत होकर इसका अनुकरण नहीं किया। 'हेमन्त' ऋतु आज भी प्रतिवर्ष आती है और आज भी यहां के कवि अपनी-अपनी भाषाओं में हेमन्त पर कविता रचते हैं किन्तु जिस 'हेमन्त' का वर्णन आदिकवि ने किया है वह भारत के ऋतुवर्णन काव्य में अमर है। जैसे कि 'हेमन्त' ऋतु के सभी अभिव्यञ्जक 'पाला का पड़ना' (नीहारपरुषो), 'पके धान की लहलहाती खेती' (पृथिवी सस्यमालिनी), 'पानी में ठंडक की वृद्धि' (जलान्यनुपभोग्यानि), 'आग का अच्छा लगना' (सुभगो हव्यवाहनः), 'धूप का अच्छा लगना' (दिवसाः सुभगादित्याः), 'खुले में सोने के समय का बीत जाना' (निवृत्ताकाशशयनाः), 'बढ़ती ठंडक के साथ-साथ रातों का लम्बा होना' (शीतवृद्धतरायामास्त्रियामा यान्ति साम्प्रतम्), 'पाले से चन्द्रमा की चाँदनी का धुंधला पड़ जाना' (निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते), 'पछुआ हवा में ठंड का भरना' (प्रकृत्या शीतलस्पर्शो हिमविद्धश्च साम्प्रतम् । प्रवाति पश्चिमो वायुः काले द्विगुणशीतलः ।।), 'खेतों में सोने सी चमकती धान की लहलहाती बड़ी-बड़ी बालों की शोभा' (खर्जूरपुष्पाकृतिभिः शिरोभिः पूर्णतण्डुलैः । शोभन्ते किंचिदालम्बाः शालयः कनकप्रभाः ।।), 'दोपहर में भी पाले के कारण सूर्य का चन्द्रमा सा लगना' (मयूखैरुपसर्पद्भिर्हिमानीहारसंवृतैः। दूरमभ्युदितः सूर्यः शशांक इव लक्ष्यते ।।), 'सुबह धूप का कुछ पता न चलना, दोपहर में धूप का अच्छा लगना' (अग्राह्यवीर्यः पूर्वाह्णे मध्याह्ने स्पर्शतः सुखः । संरक्तः किंचिदापांडुरातपः शोभते क्षितौ ।।) आदि आदि वाल्मीकि के हेमन्त वर्णन में दिखाई देते हैं। हेमन्त के स्वभाव की यह महिमा और यह सुन्दरता ऐसे पदों द्वारा प्रतिपादित

---

१. ऋतुसंहार ४.१ ।

है जो आदि कवि के हृदयगत भावों और अभिप्रायों का सहज रूप प्रकाशित कर देते हैं। यहां वाच्यसौन्दर्य के वर्द्धक उपमा और रूपक आदि अलंकारों की विशेष उपयोगिता अथवा आवश्यकता नहीं देखी गयी क्योंकि कवि को डर था कि हेमन्तरूप वस्तु के स्वभाव की सुकुमारता अलंकारों की चमक में कहीं म्लान न पड़ जाये। यहां हेमन्त के स्वाभाविक सौन्दर्य के अभिव्यंजनों में कवि अपने स्वभाव का परिपोष देख रहा है। इस दृष्टि से कहीं-कहीं एक-आध सरल किन्तु सुन्दर अलंकार की भी योजना दिखाई दे जाती है। जैसे कि 'पाले में पड़ी पूर्णिमा की चाँदनी', 'धूप में कुम्हलायी सीता' समान दिखलाई गयी है (ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते। सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न च शोभते॥) यह उपमा ऋषि कवि के भावार्द्र हृदय से निकली है। इसका अनुहरण नहीं हो सकता।

रामायण के इस 'हेमन्त' वर्णन का चम्पू रूपान्तर भोज ने कुछ इस प्रकार किया है कि उनके काव्य में कालिदास के हेमन्त काव्य और बाण के वाक्य सौन्दर्य की प्रेरणा स्पष्ट प्रतीत हो जाती है। किन्तु तब भी यहां 'काव्य में चोरी' नहीं होने पायी है। चम्पूकार स्वयं एक कवि है और अपने स्मृतिकोष में सुरक्षित संस्कृत के हेमन्तकाव्य के भावरत्नों को चुन-चुनकर दिखा रहा है। कालिदास के 'ऋतुसंहार' की हेमन्तविषयक कुछ सूक्तियां देखिए[1]—

मनोहरैः कुंकुमरागरक्तैस्तुषारकुन्देन्दुनिभैश्च हारैः।
विलासिनीनां स्तनशालिनीनामलंक्रियन्ते स्तनमंडलानि॥
न बाहुयुग्मेषु विलासिनीनां प्रयान्ति सगं वलयांगदानि।
नितम्बबिम्बेषु नवं दुकूलं तन्वंशुकं पीनपयोधरेषु॥
काञ्चीगुणैः काञ्चनरत्नचित्रैः नो भूषयन्ति प्रमदा नितम्बम्।
न नूपुरैर्हंसरुतं भजद्भिः पादाम्बुजान्यम्बुजकान्तिभाञ्जि॥

और इनकी पहचान भोजरचित चम्पूरामायण की इन पंक्तियों में कीजिये—

चन्द्रातपे निरानन्दतां चन्दनानुलेपने निर्लोलुपतां चन्द्रशालायां निराशतां चन्द्रोपलस्थले निरास्थतां वातायनसेवने निरुत्सुकतां वापीकूपोपकंठे निरुत्कंठतां वासरावसाने नादरतां वारिविहारे निराकांक्षतामुत्पलमालायामुपेक्ष्यतामुपवन-भजनेऽप्युद्विग्नतां च जनानां जनयन्……हेमन्तसमयः समुदजृम्भत॥

यहां चम्पू के रूप में वाल्मीकि रामायण के हेमन्तवर्णन के प्रसंग की अवतारणा ऐसी है जिसमें यह प्रतीत हो जाता है कि चम्पूकार ने कालिदास के हेमन्तवर्णन और बाण के वाक्य विन्यास दोनों के सम्मिश्रण में एक नवीन रस

---

१. ऋतुसंहार ४-२४।

की सृष्टि का रस लिया है। यह भी एक कवि कार्य है और काव्य में अनुहरण और नवीनता के सिद्धान्त की उर्वराभूमि के समान है। काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने नवीनता के ऐसे पुजारी कवियों के लिए 'द्रावक' की संज्ञा दी है[१]—

अप्रत्यभिज्ञेयतया स्ववाक्ये नवतां नयेत्।
यो द्रावयित्वा मूलार्थं द्रावकः स भवेत् कविः॥

अर्थात् ऐसे कवियों को 'द्रावक' कहना चाहिए जो अपनी रचना में अपने आदर्श भूत काव्यार्थ का ऐसा निचोड़ निकाल लेते हैं जिसमें मूलभूत काव्य की पहचान के बदले 'नयी रचना का अनुभव हुआ करता है। यहाँ चम्पूकार की भी यही बात है। चम्पूकार ने वाल्मीकि रामायण के हेमन्तवर्णन में अपने अनुभूत हेमन्त दृश्यों और उनसे संबद्ध कल्पनाओं का भी यत्किंचित् समावेश कर दिया है। जैसे कि वाल्मीकि के 'हेमन्तऋतु वर्णन' का 'सुभगो हव्यवाहनः' का सहज सुन्दर दृश्य 'निर्धूमांगारभरितहसन्तिकायन्त्रस्य च सुभगंकरः' के रूप में एक नवीनता लिए उतर आया है। महर्षि वाल्मीकि ने समसामयिक तपोवनों और ऋषिकुलों में 'हेमन्त' का अनुभव किया था और शीतबाधा के निवारण के लिए 'अग्नि सेवन' के प्रति लोगों की अभिरुचि का भी अनुभव किया था। चम्पूकार बदले हुए युग का कवि है। ग्रामों और नगरों में हेमन्त के समय ठंड से बचने के लिए 'अंगीठियों में जलती आग' का दृश्य कवि का आंखों-देखा दृश्य है। वाल्मीकि की आँखों से देखे गए दृश्य का वर्णन अनुकरणमात्र होता। चम्पूकार ने अनुकरण नहीं किया। चम्पूकार ने वाल्मीकि के 'सुभग' पद का अनुहरण किया और अपने अनुभव में आये अर्थ, अर्थात् 'अंगीठियों में जलती आग' के दृश्य का निरूपण कर दिया। इसी प्रकार वाल्मीकि के वर्णित 'हिमध्वस्त जराजर्जरितपत्र शीर्णकेसरकर्णिक नालशेष कमलाकर' के दृश्य के चिन्तन में चम्पूकार ने एक नवीन कारुणिक दृश्य दिखा दिया। हेमन्त लक्ष्मी के आवासभूत कमलों से प्रतिशोध लेने पर तुला हुआ है क्योंकि इसी के द्वारा वह ठंड से कांपते, दोनों हाथों से कंपकंपी दूर करने के लिए छाती दबाये, ठंडक से बजते दाँतों के बहाने शीत की पिशाचिका से छुटकारा पाने के लिए मन्त्र जाप-सा करते, और दुर्भाग्य का दिया खड़े रोंगटों का कम्बल लपेटे दीन दुखी लोगों पर कभी कृपा दृष्टि न करने वाली लक्ष्मी से बदला निकाल सकेगा (कृतकरयुगलस्वस्तिकाबन्धनतया·········सपत्रकोशं विनाशयन्)।

वाल्मीकि का हेमन्त सौन्दर्य वर्णन कुछ ऐसा है जिसके लिए यह उक्ति

१. काव्यमीमांसा अध्याय १२।

सर्वथा चरितार्थ होती है 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।' रामायणचम्पूकार ने इसी क्षण-क्षण नवीन वर्णन सौन्दर्य को अपनी कल्पना की तूलिका से खींचा हैं जिसमें 'नयी रचना' का कुछ आभास मिल जाता है। यह 'कोरी नकल' नहीं। यह भी एक कविकृत्य है जिससे काव्य का मार्ग विस्तृत और प्रशस्त होता चलता है।

एक और प्रसंग देखिये। वाल्मीकि ने सुन्दरकाण्ड का प्रारम्भ इस सूक्ति से किया है[1]—

ततो रावणनीतायाः सीतायाः शत्रुकर्षणः।
इयेष पदमन्वेष्टुं चारणाचरिते पथि॥

और इस सूक्ति की वर्णमाधुरी से प्रभावित होकर भोजराज ने चम्पूरामायण के सुन्दरकाण्ड का आरम्भ इस प्रकार किया है[2]—

'ततो हनूमान् दशकंठनीतां सीतां विचेतुं पथि चारणानाम्।
महेन्द्रशैलस्य खगेन्द्रवेगः प्रस्थादुदस्थात् प्रथमानवेगः॥'

'काव्य में अपहरण' के दोष से बचने की ही दृष्टि से वाल्मीकि की स्वभाव मधुर वर्णध्वनि के बदले, भोजराज ने, अपनी अलंकृत वर्णमाधुरी 'ततो हनूमान् दशकंठनीतां सीतां विचेतुम्' आदि का रूप खड़ा किया है। सीता की खोज में सागर संतरण के लिए सन्नद्ध, महेन्द्र पर्वत पर पैर जमाकर खड़े, हनूमान् के व्यापक विकराल रूप को वाल्मीकि इस प्रकार दिखाते हैं[3]—

निष्प्रमाणशरीरः संलिलंघयिषुरर्णवम्।
बाहुभ्यां पीडयामास चरणाभ्यां च पर्वतम्॥
स चचालाचलश्चाशु मुहूर्तं कपिपीडितः।
तरूणां पुष्पिताग्राणां सर्वं पुष्पमशातयत्॥
तेन पादपमुक्तेन पुष्पौघेण सुगन्धिना।
सर्वतः संवृतः शैलो बभौ पुष्पमयो यथा॥
तेन चोत्तमवीर्येण पीड्यमानः स पर्वतः।
सलिलं सम्प्रसुस्राव मदमत्त इव द्विपः॥
पीड्यमानस्तु बलिना महेन्द्रस्तेन पर्वतः।
रीतीर्निर्वर्तयामास काञ्चनाञ्जनराजतीः॥
मुमोच च शिलाः शैलो विशालाः समनःशिलाः।

---

१. वाल्मीकिरामायण सुन्दरकाण्ड १ १।

२. चम्पूरामायण : सुन्दरकाण्ड १।

३. वाल्मीकिरामायण : सुन्दरकाण्ड १.११-१८।

मध्यमेनार्चिषा जुष्टो धूमराजीरिवानलः ॥
हरिणा पीड्यमानेन पीड्यमानानि सर्वतः।
गुहाविष्टानि सत्त्वानि विनेदुर्विकृतैः स्वरैः ॥
स महान् सत्त्वसंनादः शैलपीडानिमित्तजः।
पृथिवीं पूरयामास दिशश्चोपवनानि च ॥

वाल्मीकि की कवि प्रतिभा से उपस्थापित हनूमान् के इस स्वरूप का पुनः प्रदर्शन कहीं काव्यापहार न हो जाये इस दृष्टि से भोजराज ने यहां हनूमान् के जमे पैरों का भार सम्हालने में असमर्थ महेन्द्र पर्वत में एक ऐसी ही विषम परिस्थिति में पड़े मनुष्य के व्यक्तित्व की उत्प्रेक्षा कर दी[1]—

'तदानीमुदन्वदुल्लंघनदृढ़तरनिहितचरणनिष्पीडनं सोढुमक्षमः क्ष्माभृदेव ·········दौस्थ्यमभजत ॥'

यहाँ एक ऐसे मनुष्य की कल्पना है जिसके कन्धे पर अचानक एक भारी भरकम लंगूर आकर बैठ गया है और उसके बोझ से उस मनुष्य की विचित्र सी दुर्दशा होने लगी है। रौद्र करुण में परिणत हुआ करता है। वाल्मीकि रामायण में हनुमान का रौद्ररूप और चम्पूरामायण में महेन्द्र का करुण रूप ये दो पृथक-पृथक् रूप हैं। महेन्द्र पर्वत का यह करुण रूप हनुमान् के रौद्ररूप की ही छाया है किन्तु ध्यान से देखने पर दोनों का व्यक्तित्व अलग अलग झलकता है।

उपर्युक्त कतिपय वर्णनात्मक प्रसंगों के आधार पर यह स्पष्ट है कि भोजराज ने वाल्मीकि का 'अनुहरण' किया है, 'अनुकरण' नहीं। यह 'अनुहरण' काव्याशास्त्र के आचार्य की दृष्टि में 'कविता में चोरी' नहीं कहलाता। राम और सीता के चरित्रचित्रण से संबद्ध प्रसंगों के आधार पर तो यह बात और भी प्रमाणित हो जाती है कि भोजराज की कृति चम्पूरामायण मौलिकता से सुवासित है।

उदाहरण के लिए वाल्मीकि रामायण में सीता के लिए वल्कल वसन का निषेध करते कैकेयी के प्रति दशरथ की यह उक्ति देखिए[2]—

तस्यां चीरं वसानायां नाथवत्यामनाथवत्।
प्रचुक्रोश जनः सर्वो धिक् त्वां दशरथं त्विति ॥
तेन तत्र प्रणादेन दुखितः स महीपतिः।
चिच्छेद जीविते श्रद्धां धर्मे यशसि चात्मनः ॥
स निःश्वस्योष्णमैक्ष्वाकस्तां भार्यामिदमब्रवीत्।
कैकेयि कुशचीरेण न सीता गन्तुमर्हति ॥

---

१ चम्पूरामायण : सुन्दरकाण्ड : १ श्लोक के बाद का गद्य।
२. वाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड ३८. १-४।

सुकुमारी च बाला च सततं च सुखोचिता।
नेयं वनस्य योग्येति सत्यमाह गुरुर्मम ॥

और इसी प्रसंग में चम्पूरामायण की यह सूक्ति देखिये[१]—

वासस्त्वचां भवतु किंचन तारवीणां
छायाद्रुमाश्च भवनानि भवन्तु धन्याः।
कैकेयि तस्य शयनानि कथं भवेयु-
स्त्वच्चेतसोऽपि कठिनानि शिलातलानि ॥

यहाँ भोजराज ने वाल्मीकि से काव्य का जो मूलधन लिया है उसे व्याज के साथ चुका दिया है। यहां वन में वल्कल का परिधान तो सीता किसी प्रकार पहन लेंगी किन्तु उस पत्थर की चट्टान पर वह कैसे सो सकेंगी जो कैकेयी के कठोर हृदय से भी बढ़कर कठोर है। यह कल्पना वाल्मीकि के द्वारा प्रकाशित कोमल भावों के चिन्तन में निकली है न कि वाल्मीकि के किसी पदसन्दर्भ के रूपान्तरण में। यहां चम्पूकार 'कोमलांगी रामप्रिया जनकनन्दिनी' का मानस साक्षात्कार कर रहा है जबकि रामायण में वाल्मीकि ने दशरथ की दृष्टि में रामवधू सीता की सुकुमारता का दर्शन कराया है।

चम्पू रामायण में इतिवृत्त विन्यास और चरितचित्रणसम्बन्धी नवीनता

रामायण में राज्याभिषेक के बदले वनगमन के समाचार से प्रसन्न राम कैकेयी से कह रहे हैं[२]—

एवमस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुमहं त्वितः।
जटाचीरधरो राज्ञः प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥
इदं तु ज्ञातुमिच्छामि किमर्थं मां महीपतिः।
नाभिनन्दति दुर्धर्षो यथापूर्वमरिंदमः ॥
मन्युर्न च त्वया कार्यो देवि ब्रूमि तवाग्रतः।
यास्यामि भव सुप्रीता वनं चीरजटाधरः ॥
हितेन गुरुणा पित्रा कृतज्ञेन नृपेण च।
नियुज्यमानो विस्रब्धः किं न कुर्यामहं प्रियम् ॥
अहं हि सीतां राज्यं च प्राणानिष्टान् धनानि च।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरताय प्रचोदितः ॥
किं पुनर्मनुजेन्द्रेण स्वयं पित्रा प्रचोदितः।
तव च प्रियकामार्थं प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥

---

१. चम्पूरामायण : अयोध्याकाण्ड श्लोक २२।

२. वाल्मीकि रामायण : अयोध्याकाण्ड १९.२-,५७ ८।

और इसी प्रसंग में रामायण चम्पू में कैकेयी के प्रति राम की यह उक्ति है[1]—

वनभुवि तनुमात्रत्राणमाज्ञापितं मे
सकलभुवनभारः स्थापितो वत्समूर्ध्नि ।
तदिह सुकरतायामावयोस्तर्कितायां
मयि पतति गरीयानम्ब ते पक्षपातः ॥

यहाँ नकल नहीं है । यहां तो सर्वथा नवीन उद्भावना है । भरत के लिए प्रयुक्त 'वत्स' और कैकेयी के लिए प्रयुक्त 'अम्ब' पद राम के हृदय में भरत के प्रति वात्सल्य और कैकेयी के प्रति मातृप्रेम की मधुर अभिव्यंजना करने में निरत हैं । यहां वाल्मीकि के गूढ़ आशय को भोजराज ने अपनी सूक्ति के द्वारा एक नए ढंग से प्रकट किया है ।

वाल्मीकि रामायण में रावण से तिरस्कृत तथा राम के शरणागत विभीषण के सम्बन्ध में राम की यह उक्ति देखिए[2]—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥
अनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया ।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम् ॥

सुन्दरकाण्ड पर्यन्त रचित भोजराजकृत चम्पूरामायण की पूर्ति के लिए लक्ष्मण-पंडित ने जो युद्धकाण्ड की रचना की है उसमें इसी प्रसंग में यह उक्ति है[3]—

अभ्यागतो मदपयाति चेन्मुधा रघवो भवन्ति लघवो न किं सखे ।
अनुजोऽयमस्तु तनुजोऽथवा रिपोः करुणापदं हि शरणागतो जनः ॥

यहां यह बात ध्यान देने की है कि यद्यपि चम्पूकार लक्ष्मणपंडित ने वाल्मीकि रामायण में ही चित्रित विभीषण का चरित्रचित्रण किया है और वाल्मीकि का ही अनुसरण करके शरणागतवत्सल राम के स्वरूप का निरूपण किया है । किन्तु 'रघुवंश' की रचना में महाकवि कालिदास ने निगूढ़ अभिप्राय की एक ऐसी झांकी दिखा दी है जिसमें एक नवीनता की व्याप्ति स्पष्ट प्रतीत हो रही है । वाल्मीकि रामायण के राम का शरणागत प्रेम उनका अपना स्वाभाविक धर्म है किन्तु महाकवि कालिदास को लक्ष्य में रखकर लक्ष्मणपंडित ने राम के इस स्वधर्म को महाराज रघु और उनके वंश के परम्परागत धर्म

१. रामायणचम्पू : अयोध्याकाण्ड श्लोक २५ ।
२. वाल्मीकि रामायण : युद्धकाण्ड १८ : ३३-३४ ।
३. रामायणचम्पू : युद्धकान्ड १८ ।

से एकरूप और एक रस दिखा दिया है। यहाँ 'रघवो भवन्ति लघवो न किं सखे' इस सूक्ति का यही स्वारस्य है।

चम्पूरामायण की काव्यात्मक विशेषता

चम्पूशैली में और कवियों ने भी राम का चरितगान अवश्य किया होगा किन्तु उनकी रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। इस शैली में सर्वप्रथम रचित भोजराज की ही कृति रामायणचम्पू उपलब्ध है। सामान्यतः संस्कृत काव्य के इतिहास में रामायण चम्पू ने एक स्थान बना लिया है। इसका कारण यह नहीं है कि चम्पूकार ने वाल्मीकि रामायण का चम्पूरूपान्तर कर दिया, अपितु यह है कि रामायण के चम्पूरूपान्तरण में, भोजराज ने, स्थान स्थान पर, अपने सम॰ सामयिक समाज में प्रचलित राम माहात्म्य का भी प्रदर्शन किया और अपने पूर्ववर्ती रामकाव्य के उपवन से रस संग्रह करके एक छोटा सा मधुकोश भी बनाया जिसका मधुरस पुराना होने पर भी राम काव्य प्रेमियों को नया सा ही लगा। 'अनुहरण' में भी नवीन उद्भावना की संभावना है, यदि रचयिता कवि है। इस आशय की ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य की यह उक्ति है[1]—

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किंचित्
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्
सुकविरुपनिबध्नन् निन्द्यतां नोपयाति॥

यह उक्ति रामायणचम्पू के रचयिता भोजराज पर भी लागू होती है। भोजराज के चम्पू कवित्व से प्रभावित और उनके चम्पू रामायण को पूरा करने के लिये युद्ध काण्ड चम्पू की रचना करने वाले कवि लक्ष्मणपंडित ने भी वस्तुतः अपने मन के ऐसे ही अभिप्राय को प्रकाशित करते हुए लिखा था—

दृष्टे यत्र यदृच्छयापि वचसां देवी पुरो वर्तते
सारस्यं महदभ्युदेति सदसि प्रागल्भ्यमुज्जृम्भते।
जायन्ते सकलाः कला अपि नृणां जागर्ति कीर्तिर्नवा
चेतः स्निह्यति तत्र देशिकपदाम्भोजे च भोजे मम॥

और रामायणचम्पू के पाठक भी लक्ष्मणपंडित का समर्थन ही करते हैं।

---

१. ध्वन्यालोकः उद्योत चतुर्थ : श्लोक १६।

उपसंहार

हमने इस प्रबन्ध में संस्कृत काव्यशास्त्र और संस्कृत काव्यसाहित्य में यत्र-तत्र प्रकाशित काव्यगत मौलिकता और अनुहरण से संबद्ध विचारों का जो विवेचन प्रस्तुत किया है उसका सार संक्षेप यह है—

१. संस्कृत के आलंकारिकों में प्रायः सभी ने काव्य में शक्ति अथवा प्रतिभा की महिमा का वर्णन किया है। संस्कृत आलंकारिकों का 'शक्ति' अथवा 'प्रतिभा' का वर्णन ही, उनका काव्यगत मौलिकता का वर्णन है। प्रतिभा से ही काव्य की सृष्टि सम्भव है और प्रतिभा से ही काव्य की रसानुभूति भी सम्भव है यह समान मान्यता प्रायः सभी देशों के और सभी भाषाओं के काव्य साहित्य के समीक्षकों की है। अभिनवगुप्तपादाचार्य की निम्नलिखित सूक्ति में इस प्रतिभा के ही रूपों का निरूपण है[1]—

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां
जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च।
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति तत्
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते॥

और वस्तुतः इसी प्रतिभा की रूपरेखा महाकवि वड्र्सवर्थ की इन पंक्तियों में भी झलकती है[2]—

I have felt
A presence that disturbs me with the joy.
Of elevated thoughts; a sense sublime
Of something far more deeply interfused,
Whose dwelling is the light of setting suns,
And the round ocean and the living air,
And the blue sky, and in the mind of man:
A motion and a spirit that impels
All thinking things, all objects of all thought
And rolls through all things.

१. ध्वन्यालोकलोचन आरम्भ श्लोक।
2. Tintern Abbey; Wordsworth.

२. संस्कृत के जो भी कवि प्रसिद्ध हो चुके हैं उन्होंने अपनी प्रतिभा अथवा अपनी मौलिक काव्यशक्ति के सम्बन्ध में, स्पष्ट अथवा अस्पष्ट, उल्लेख अवश्य किया है। महाकवि विल्हण ने अपनी 'मौलिकता' का निम्नलिखित उल्लेख किया है[1]—

सहोदराः कुंकुमकेसराणां
भवन्ति नूनं कविताविलासाः।
न शारदादेशमपास्य दृष्ट-
स्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः॥
रसध्वनेरध्वनि ये चरन्ति
संक्रान्तवक्रोक्तिरहस्यमुद्राः।
तेऽस्मत्प्रबन्धानवधारयन्तु
कुर्वन्तु शेषाः शुकवाक्यपाठम्॥
अनन्यसामान्यगुणत्वमेव
भवत्यनर्थाय महाकवीनाम्।
ज्ञातुं यदेषां सुलभाः सभासु
न जल्पमल्पप्रतिभाः क्षमन्ते॥
अलौकिकोल्लेखसमर्पणेन
विदग्धचेतःकषपट्टिकासु।
परीक्षितं काव्यसुवर्णमेत-
ल्लोकस्य कण्ठाभरणत्वमेतु॥

अपनी मौलिकता के सम्बन्ध में उनका यह आत्मनिवेदन अधिक स्पष्ट है। अपनी मौलिकता का अतिविनम्र अथवा अस्पष्ट आत्मनिवेदन महाकवि कालिदास भी कर चुके हैं। उनकी 'मन्द कवियशःप्रार्थी'[2] की उक्ति का व्यंग्यार्थ और क्या हो सकता है ?

३. संस्कृत की काव्यकला की कृतियाँ, चाहे वे प्राचीन युग की हों अथवा नवीन युग की, परस्पर सापेक्ष तथा परस्पर संबद्ध हैं। जिस किसी संस्कृत के काव्यकार को हम मौलिक प्रतिभा का धनी मानते हैं वह संस्कृत काव्य साहित्य की परम्परा के उल्लंघन में अपनी मौलिकता का प्रकाशन नहीं करता। महाकवि कालिदास की मौलिकता 'आकस्मिक' नहीं अपितु उसका एक इतिहास है जो आदि कवि वाल्मीकि से लेकर अब तक चल रहा है और आगे भी चलता

---

१. विक्रमांकदेवचरित १. २१–२४
२. रघुवंश।

रहेगा। आदि कवि वाल्मीकि की काव्य परम्परा भी वेद वाङ्मय की काव्यात्मक भावनाओं का ही विकसित रूप है। बौद्धदर्शन का 'प्रतीत्य समुत्पाद' सिद्धान्त काव्यजगत् में भी सर्वथा लागू हुआ करता है।

४. सभी संस्कृत कवि अनुहरण करते हैं। जो सबसे बड़ा संस्कृत कवि है उसका अनुहरण सबसे सुन्दर और सबका अनुकरणीय आदर्श है। वाल्मीकि के आदिकाव्य और अन्य प्राचीन तथा समसामयिक काव्य साहित्य की मर्यादाओं से अपनी मौलिक कवि प्रतिभा को समृद्ध करने पर ही कालिदास भारत और संस्कृत के प्रथम महाकवि बन सके और महाकवि कालिदास के काव्यों के रसास्वाद के ही प्रभाव में भवभूति की नई कविता निकल पाई। महाकवि कालिदास तथा अन्य प्राचीन तथा समकालीन काव्यकारों की काव्यसम्पत्ति से सम्पन्न होने पर ही बाण की गद्य कविता 'कादम्बरी' रची जा सकी। संस्कृत काव्य साहित्य के इतिहास में जिस कवि का भी कुछ नाम है वह अनुहरण की कला में कुशलता रखता है।

५. कविजन के लिए अनुहरण ही वह साधन है जिसके सदुपयोग में काव्य का उद्भव और विकास सम्भव है। इसके दुरुपयोग से ही किसी कवि पर 'अपहरण' का कलंक लगता है सदुपयोग से नहीं। महाकवि भवभूति ने अपने 'मालतीमाधव' में अनुहरण के सदुपयोग का ही प्रकारान्तर से वर्णन किया है जो कि उनकी इस उक्ति में दिखाई देता है[1]—

यद्वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च
ज्ञानं तत्कथनेन किं न हि ततः कश्चिद् गुणो नाटके।
यत्प्रौढित्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवं
तच्चेदस्ति ततस्त देवगमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः॥

यहां जिस 'प्रौढि और उदारता तथा गम्भीरता' की विशेषताओं का निर्देश है जिसके द्वारा कवि के पांडित्य और वैदग्ध्य की सूचना मिलती है वह वस्तुतः अनुहरण की ही कला की व्याख्या है। काव्य रचना के अभ्यास कौशल मात्र से भवभूति भवभूति नहीं बन पाये। भवभूति का अनुपम कवित्व कालिदास सरीखे काव्यकारों के 'अनुहरण' में ही विकसित हुआ अन्यथा नहीं।

६. काव्य में 'अनुहरण' का दुरुपयोग 'अपहरण' बन जाता है। संस्कृत के आलंकारिकों ने 'काव्यापहार को एक बहुत बड़ा अवद्य' अथवा पाप माना है। संस्कृत काव्य साहित्य के इतिहास में जिन काव्यकारों का नाम अब तक प्रसिद्ध हो चुका है उन पर 'अपहरण' का दोष नहीं लग पाया है। काव्य मीमांसक

---

१. मालती माधव १. ८।

कविराज राजशेखर ने 'काव्यापहार' करने वालों का जो उल्लेख किया है उसमें उन 'तुक्कड़ों' को ही समाविष्ट माना जा सकता है जिनकी रचनायें समसामयिक काव्यगोष्ठियों के लिए रची जाती होंगी और जिनके सम्बन्ध में संस्कृत काव्य साहित्य का इतिहास सर्वथा अपरिचित है। काश्मीर के महाकवि क्षेमेन्द्र ने भी कुछ कवियों का निर्देश कन्था कवि के रूप में किया है। ये कवि वे ही हो सकते हैं, जो काव्यगोष्ठियों के लिए इधर-उधर से जोड़ तोड़कर 'तुकबन्दी' कर सकते होंगे। संस्कृत काव्य साहित्य के इतिहास में ऐसी तुकबन्दियाँ भी सर्वथा अज्ञात हैं। अपहरण करने वाले जो भी संस्कृत के कवि रहे हों, उनका काव्य अब तक नष्ट हो चुका है। आनन्दवर्धनाचार्य की एक उक्ति है—

प्रतायन्तां वाचो निमितविविधार्थामृतरसा
न सादः कर्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये।
परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती॥

इस उक्ति में 'परकृत काव्य के अपहार' से बचने की जो भावना है वह संस्कृत के महाकवियों की ही भावना है और इसी के परिणाम स्वरूप संस्कृत का काव्य वैभव बढ़ता आया है।

संस्कृत के कवि अपने ऊपर 'अनुकरण' अथवा 'नकल' के लांछन को बहुत बड़ा लांछन मानते रहे हैं। संस्कृत के काव्यों के उपोद्घातों में 'दुर्जन निन्दा' के जो प्रसंग आये हैं उनमें सम्भवतः काव्यकारों पर 'अनुकरण' अथवा 'नकल' का लांछन लगाने वाले लोगों को ही संकेतित किया गया है। यहां अंग्रेज़ी के एक साहित्यकार की निम्नलिखित कविता ध्यान में आ जाती है[1]—

Some say Pilgrim's progress is not mine,
Insinuating as if I would shine
In name and fame by the worth of another,
Like some made rich by robbing of their brother.
Or that so fond I am of being sire,
I 'll father bastards, or, if need require,
I 'll tell a lie in print to get applause.
I scorn it; John such dirt-heap never was
Since God converted him, Let this suffice
To show why I my pilgrim patronize

---

1. The Catholic World—John Bunyan.

It came from my own heart; so to my head,
And thence into my fingers trickled;
Then to my pen, from whence immediately
On paper I did dripple in daintly.
Manner and matter too was all mine own;
Nor was it unto any mortal known,
Till I had done it, Nor did any then,
By books, by wit, by tongue or hand, or pen
Add five words to it, or wrote half a line
Thereof; the whole and every whit is mine.

इसमें कवि ने बड़े आवेश में अपने 'दुर्जन आलोचकों पर आघात किया है। संस्कृत के कवि ऐसा आघात नहीं करते। अपने ऊपर अनुकरण अथवा नकल के लांछन का निवारण वे अभिव्यञ्जना शैली में करने के अभ्यस्त हैं। महाकवि बाण की निम्नलिखित उक्ति इसका एक ज्वलन्त प्रमाण है[1]—

कटु क्वणन्तो मलदायकाः खला-
स्तुदन्त्यलं बन्धनश्रृंखला इव।
मनस्तु साधुध्वनिभिः पदे पदे
हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव॥





[1] कादम्बरी कथामुख ६।

परिशिष्ट

(१)

अतोऽभिवाञ्छता कीर्त्तिं स्थेयसीमा भुवः स्थितेः।

यत्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः॥

भामह : काव्यालंकार १. ८

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।

अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥

दण्डी : काव्यादर्श १. १०३

तत्र महान्तो येषु च विततेष्वभिधीयते चतुर्वर्गः।

सर्वे रसाः क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि॥

रुद्रटः: काव्यालंकार १६. ५

संवादो ह्यन्यसादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत्।

आलेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम्॥

आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक ४. १२



प्रस्तुत प्रबन्ध में सहायक ग्रन्थ

१ अभिज्ञानशाकुन्तल : कालिदास, सं० मोनियर विलियम ।
२ अभिज्ञानशाकुन्तल : ,, राघवभट्टकृत व्याख्या ।
३ अभिज्ञानशाकुन्तल : ,, डा० कपिलदेव द्विवेदी कृत व्याख्या ।
४ अभिज्ञानशाकुन्तल : ,, सं० एस० रे० ।
५ अभिज्ञानशाकुन्तल : ,, सं० ए० बी० गजेन्द्रगडकर ।
६ अमरुकशतक : अमरुक, रसिकसंजीविनी व्याख्या ।
७ अमरुकशतक : ,, वेमभूपालकृत शृङ्गारदीपिका टीका ।
८ अविमारक : भास ।
९ अवदानकल्पलता : क्षेमेन्द्र ।
१० अध्यात्मरामायण : गीता प्रेस गोरखपुर ।
११ अमरकोश : अमरसिंह ।
१२ उत्तररामचरित : भवभूति ।
१३ ऋतुसंहार : कालिदास ।
१४ ऋग्वेदसंहिता : प्र० वैदिक संशोधन मण्डल, पूना ।
१५ ऋग्वेद : ऋगर्थदीपिका टीका, वाराणसी से प्रकाशित ।
१६ काव्यालंकार : भामह ।
१७ काव्यादर्श : दण्डी, सं० सी० एस० रामशास्त्री ।
१८ काव्यादर्श : ,, हिन्दी व्याख्या ।
१९ काव्यादर्श : ,, ओरियण्टल बुक सप्लाई एजेन्सी पूना ।
२० काव्यालंकारसारसंग्रह : उद्भट ।
२१ काव्यप्रकाश : मम्मट, हिन्दी व्याख्या ।
२२ काव्यप्रकाश : ,, राम भट्टझलकीकर कृत बालबोधिनी टीका ।
२३ काव्यप्रकाश : ,, सं० डा० एच० डी० शर्मा ।
२४ काव्यप्रकाश : ,, सं० ए० बी० गजेन्द्रगडकर ।
२५ काव्यालंकार : रुद्रट, नमिसाधुकृत व्याख्या से युक्त ।
२६ काव्यालंकारसूत्र : वामन ।
२७ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति : ,, कामधेनु व्याख्या सहित ।
२८ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति : ,, आचार्य विश्वेश्वर कृत हिन्दी अनुवाद ।
२९ काव्यमीमांसा : क्षेमेन्द्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ ।
३० काव्यमीमांसा : ,, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज़ ।

३१ कविकण्ठाभरण : क्षेमेन्द्र ।
३२ कादम्बरी : बाण, भानुचन्द्र सिद्धचन्द्र कृत टीका ।
३३ किरातार्जुनीय : भारवि, सं० प्रो० एस० बी० दीक्षित ।
३४ किरातार्जुनीय : „ मल्लिनाथी टीका ।
३५ किरातार्जुनीय : „ सं० एस० रे० ।
३६ कथासरित्सागर : सोमदेव ।
३७ कामसूत्र : वात्सायन ।
३८ कुमारसम्भव : कालिदास ।
३९ गउडवहो : वाक्पतिराज ।
४० जातकमाला : आर्यशूर ।
४१ जैनराजतरंगिणी : जोनराज ।
४२ जानकीहरण : कुमारदास ।
४३ ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन, हिन्दी अनुवाद आचार्य विश्वेश्वर कृत ।
४४ ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन बालप्रिया व लोचन टीका से युक्त ।
४५ ध्वन्यालोकलोचन : अभिनवगुप्त ।
४६ निरुक्त : यास्कमुनि ।
४७ न्यायपरिशुद्धि : वेदान्तदेशिक ।
४८ नैषधीयचरित : श्रीहर्ष ।
४९ नाट्यशास्त्र : भरतमुनि, अभिनवभारती टीका ।
५० बौद्धावदानकल्पलता : क्षेमेन्द्र ।
५१ भर्तृहरिशतक : भर्तृहरि ।
५२ भामिनीविलास : पण्डितराज जगन्नाथ ।
५३ भारतमञ्जरी : क्षेमेन्द्र ।
५४ भट्टिकाव्य: रावणवध : भट्टि ।
५५ मेघदूत : कालिदास, सं० एस० एस० विल्सन ।
५६ मेघदूत : „ सं० एस० आर० काले ।
५७ मालविकाग्निमित्र : „ अंग्रेजी अनुवाद : राम शास्त्री ।
५८ मालविकाग्निमित्र : „ अंग्रेजी अनुवाद : मगरूलकर ।
५९ मालविकाग्निमित्र : „ अंग्रेजी अनुवाद: जी० एच० गौडबोले ।
६० मुद्राराक्षस : विशाखदत्त, अंग्रेजी अनुवाद : जे० एम० अशर ।
६१ मुद्राराक्षस : „ सं० देवधर तथा बेड़ेकर ।

६२ मुद्राराक्षस : विशाखदत्त, सं० एस० राम।
६३ मुद्राराक्षस : " सं० डा० एस० बी० सिंह: चौखम्बा प्र०।
६४ मृच्छकटिक : शूद्रक, चौखम्बा प्रकाशन।
६५ मृगांकलेखा : कविराज विश्वनाथ।
६६ मालतीमाधव : भवभूति।
६७ यशस्तिलकचम्पू : सोमदेवसूरि।
६८ रघुवंश : कालिदास, चौखम्बा प्रकाशन।
६९ राजतरंगिणी : कल्हण।
७० राजतरंगिणी : " सं० एम० ए० स्टाइन।
७१ राजतरंगिणी : " अंग्रेज़ी अनुवाद : आर० एम० पंडित।
७२ रामायण : वाल्मीकि, गीताप्रेस गोरखपुर।
७३ रामायण : " गोविन्दराजीय व्याख्या।
७४ रामायणचम्पू : भोजराज।
७५ रामायणचम्पू : " अयोध्याकाण्ड, अंग्रेज़ी।
७६ रामायणचम्पू : " किष्किन्धाकाण्ड, अंग्रेज़ी।
७७ रसगंगाधर : पंडितराज जगन्नाथ, नागेशभट्ट की टीका।
७८ 'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन'। : डा० प्रेमस्वरूप गुप्त
७९ लघुवृत्ति : प्रतिहारेन्दुराज।
८० वक्रोक्तिजीवित : राजानक कुन्तक।
८१ वक्रोक्तिजीवित : " हिन्दी टीका : आचार्य विश्वेश्वर।
८२ विक्रमोर्वशीय : कालिदास।
८३ वासवदत्ता : भास।
८४ ब्रह्माण्डपुराण
८५ विक्रमांकदेवचरित : विल्हण, सं० विश्वनाथशास्त्री भारद्वाज।
८६ वाचस्पत्यम् : चौखम्बा प्रकाशन
८७ सुभाषितरत्नकोष : विद्याधर।
८८ सुभाषितरत्नसंदोह : अमितगति।
८९ सुभाषितरत्नभाण्डागार : निर्णय सागर प्रेस।
९० सेतुबन्ध : प्रवरसेन, निर्णय सागर प्रेस।
९१ सूर्यशतक : मयूरकवि, त्रिभुवनपाल की टीका।
९२ सरस्वतीकण्ठाभरण : महाराज भोज।
९३ सूक्तिमुक्तावली : भगदत्त जल्हण।

९४ सुभाषितावलि	:	वल्लभदेव संगृहीत ।
९५ शिशुपालवध	:	माघ, वल्लभदेव कृत 'सन्देहविषौषधि' तथा मल्लिनाथकृत 'सर्वंकषा' व्याख्या से युक्त चौखम्बा प्रकाशन ।
९६ हंससन्देश	:	वेदान्तदेशिक ।
९७ हर्षचरित	:	बाण जीवानन्दी टीका ।
९८ हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन	:	डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ।





आंग्लभाषा की पुस्तकें

99 An Introduction to Aesthetics. — E. F. Carritt.

100 Critical History of English poetry. — Grierson & Smith

101 Classical influences on English poetry.

102 Classical background of English literature.

103 Date af Kalidasa. — D. V. Ketker

104 Dhvanyaloka of Ananda-verdhana. — Udyota I to II. English translation by B. Bhattacharya.

105 Dhvanyaloka or theory of suggestion in poetry, — English translation by Dr. Krishnamachari.

106 Early History and Culture of Kashmir. — Dr. S. C. Ray.

107 English Critical Essays.

108 History of Sanskrit Literature. — A. B. Keith.

109 History of Sanskrit Literature. — S. K. De.

110 History of Sanskrit Literature. — P. V. Kane

111 History of Classical Sanskrit Literature. — Dr. Krishnamachari

112 Introduction to the study of Mudra-Raksasa. — Dr. G. V. Devasthali

113 Kalidasa (A study). — Jhale

114 Kalidasa ; National Poet of India. — Dr. S. S. Bhava

115 Kalidasa ; the Human meanings of his works.

116 Kalidasa. — Sri Aurovindo

117 Literary criticism in Sanskrit and English.	D. S. Sharma
118 Principles of literary criticism.	Richard
119 Plagiarism and Imitation.	By Harold Ogden White, Cambridge Harvard University.
120 Plagiarism and Originality.	By Alexander Lindey.
121 Poems of Kalidasa	M. C. Dutta.
122 Poetic approach to language	Gokak.
123 Poets and Mystics	Nalnikanta.
124 Ramayana	Rajagopalachari.
125 Rig-ved-Sanhita	Edited by Maxmuller.
126 Rig-ved-Sanhita Index	edited by Maxmuller.
127 Rig-ved-repeatitions	Mauric Bloomfield.
128 Survey of Sanskrit Literature	C. Kunhan Raja
129 Study of Aesthetics	M. H. Bird.
130 Studies in Sanskrit Aesthetics	
131 Some concepts of Alankarasastra	
132 Shakespeare-A Study of his mind and Art	E. Dewaden
133 Shakespeare and the classics	J. A. K. Thomson.
134 Sanskrit studies.	M. Hiriyanna.
135 Transformation of nature in Arts.	A Coomarswamy.
136 Yasastilaka and Indian culture	Dr. K. K. Handiqui.